

# लेखमाला-3

चंचल चौहान

## अनुक्रम

1. रघुवीर सहाय : सामाजिक न्याय और बराबरी के मूल्यों के कवि
2. अपने समय के आर पार देखता कवि : रघुवीर सहाय
3. विजयदेवनारायण साही की कविता
4. धूमिल की कविता
5. समकालीन जनवादी कविता : एक विकसती धारा
6. समकालीन जनवादी कविता की रचना प्रक्रिया
7. अंतर्वस्तु व रूप : रूपवाद और सौंदर्यवाद

## रघुवीर सहाय : सामाजिक न्याय और बराबरी के मूल्यों के कवि

हिंदी साहित्य का एक और महत्वपूर्ण और हमारा निजी कवि हमारे बीच से चला गया। वह महत्वपूर्ण और हमारा अपना, मृत्यु से नहीं, अपने जीवन और रचनाकर्म से हुआ है। रघुवीर सहाय ने, विश्व के लब्धप्रतिष्ठ रचनाकारों की ही तरह, अपने समाज और अपने युग की विसंगतियों को पहचानने के लिए एक विकसनशील दृष्टि और युगानुरूप मूल्यबोध अर्जित किया था, अपने लिए उसे खोजा था, चिंतन की गहराई में उतर कर उस मूल्यबोध को अपनी चेतना और रचना-प्रक्रिया में रचा बसा लिया था। यह मूल्यबोध सामाजिक न्याय और बराबरी के मूल्यों का था जो उनमें लगातार विकसित हुआ था। उनकी चेतना के भीतर यह मूल्यबोध, *सीढ़ियों पर धूप में*, संकलन की रचनाओं में ही अंकुरा उठा था। मगर इस कवि की महत्ता को रूपवादियों ने उसकी मौलिक मूल्यदृष्टि से नहीं, उसकी 'भाषा' से पहचाना था। अज्ञेय ने उक्त संकलन की भूमिका में रघुवीर सहाय को 'अन्यतम' और 'पहला नाम' जैसी उपाधियों से, भाषा के प्रतिमान के आधार पर ही, विभूषित किया था, जबकि भाषा के प्रतिमान को खुद रघुवीर सहाय ने अपने लेखों में नाकाफ़ी बताया था। उन्होंने लिखा था, 'प्रयोग की उपलब्धि को रचनाविशेष की भाषा या छंदगठन से जांचना मिथ्या है... शिल्प और अन्य प्रासंगिक उपकरण अपने में विश्लेषण के विषय हो सकते हैं, ब्योरेवार अध्ययन करने वालों के लिए, पर वहां से परीक्षण आरंभ नहीं किया जाना चाहिए।'

तब रघुवीर सहाय की कविता को भाषा के या शिल्प के कारण 'अन्यतम' कहना उनके साथ अन्याय ही होगा। भाषा और शिल्प के स्तर पर तो कई जगह वे अज्ञेय के मुहावरे का इस्तेमाल करते दिखायी देते हैं, मगर वे अज्ञेय की संवेदना के कवि क़तई नहीं हैं। यह मूल्यबोध का अंतर है। अज्ञेय अपनी चेतना यह अहंकार आत्मसात किये हुए थे कि वे अन्य जनों की तुलना में श्रेष्ठ हैं जिसे उन्होंने अपनी कविता में 'उछली हुई मछली' या इसी तरह के ऊंचाई के बिंबों से संकेतित किया था। रघुवीर सहाय की कविता इस अहंकार से आत्मसंघर्ष करती है। इस बात को रघुवीर सहाय ने साफ़तौर से अपने कविता संकलन, *लोग भूल गये हैं*, की भूमिका में लिखा भी है :

पाठक का पुनरज्जीवन कर सकना आदेश या उपदेश देने वाले अहं का विसर्जन करके की संभव है और इसी की परीक्षा के लिए कवि को बार बार अपनी रचनाएं प्रकाशित करनी होती हैं।

रघुवीर सहाय मानते थे कि यह अहं मनुष्य और मनुष्य के बीच असमानता, अन्याय की गहरे पैठी प्रवृत्तियों के कारण पैदा होता है। भले ही कोई 'क्रांति' का जाप कर रहा हो, या मसीहाई अंदाज़ में अहं के ऊंचे कंगूरे पर बैठा हुआ समाज को हेय भीड़ के रूप में देख रहा हो, दोनों ही स्थितियां मन के भीतर पैठे आभिजात्य के ही दो संस्करण हैं। सदियों पुरानी सामंती मूल्यव्यवस्था ने हमारे संस्कारों में जिस नाबराबरी और अन्याय की घुट्टी पिलायी है, उसे आसानी से अपने भीतर से निकाल कर समानता, बंधुत्व और आज़ादी जैसे जनवादी मूल्यों को आत्मसात कर पाना अत्यंत कठिन कार्य है। दर असल, यह नया आमी बनने की कष्टसाध्य प्रक्रिया है। आज हम देखते हैं कि जिन देशों में समाजवादी क्रांतियां हुईं, वहां भी नया आदमी बनाने की प्रक्रिया ख़तरे में पड़ती दिखायी देती है, और फिर से नाबराबरी और शोषण पर आधारित अन्याय की मांग 'लोकतंत्र' के नारे के साथ सामने आ रही है। हमारे देश में तो यह समस्या और भी गंभीर है क्योंकि यहां सत्ता में बड़ा पूंजीपतिवर्ग ही नहीं, उसके साथ सामंतवर्ग भी है। जब सामाजिक आधार में ही उसका अस्तित्व और वर्चस्व हो तो अधिरचना यानी विचार, संवेदना आदि के क्षेत्र में उससे जुड़ी प्रवृत्तियों का होना मुमकिन है ही। यहां तो पूंजीवाद से पहले के कबीलाई विचारों की भी मौजूदगी सभ्यसमाज में है जिनका पूरा फ़ायदा आज की प्रतिक्रियावादी शक्तियां उठा रही हैं। वे ऐसे ही विचारों के सहारे देश के टुकड़े टुकड़े करा देने पर आमादा हैं और मनुष्य व मनुष्य के बीच नाबराबरी और अन्याय की व्यवस्था का मज़बूती प्रदान करती हैं। मंडल कमीशन के विरोध में महाराजा कर्णसिंह से लेकर महेंद्रसिंह टिकैत तक के लठैतों का मैदान में आ जाना इसका जीता जागता उदाहरण है। रघुवीर सहाय नाबराबरी और अन्याय की इस सूक्ष्म प्रक्रिया को समाज और व्यक्ति के भीतर एक अवरोधक के रूप में घटित होते देख रहे थे। उनका सारा लेखन इन्हीं मानव-विरोधी प्रवृत्तियों को संबोधित करता रहा, उनका रचनाकर्म बराबरी, न्याय और भाईचारे के जनवादी मूल्यों के प्रति समर्पित रहा, इन मूल्यों की जहां भी हत्या होती दिखायी दी, उन्होंने अपनी रचना में, अपने जीवन में इस हत्या का प्रतिकार किया।

रघुवीर सहाय ने इन्हीं मूल्यों को अपनी काव्यसंवेदना का अविभाज्य अंग बनाया था। उन्होंने, *लोग भूल गये* हैं, संकलन की भूमिका में लिखा :

जहां तक हृदय का सवाल है, कम से कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते, इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य भूल जाते हैं। पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपनी आंतरिक संघर्ष की जांच के लिए कवि अपनी रचना करता है चाहे रचने के एकांत में से उठकर ही क्यों न आना पड़े।

‘न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श’ को बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर कवि रघुवीर सहाय ने अपनी काव्यचेतना में आत्मसात किया था। उन्हें दया, करुणा और सहानुभूति जैसे मानवीय भावों में भी कहीं न कहीं नाबराबरी और आभिजात्यवादी अहंकार की गंध आती थी। अपनी इस काव्यसंवेदना को उन्होंने अपनी कहानियों और गद्यलेखन में तो सीधे सीधे ही बयान किया, जिसकी वजह से बहुत से संकीर्णतावादी ‘वाम’ आलोचकों ने तो उन्हें ‘प्रतिक्रियावादी’ तक कह कर निन्दित किया। सीढ़ियों पर धूप में की सूक्ष्म अभिव्यक्तियों में यह मूल्यवत्ता सूत्र की तरह पिरोयी हुई तो है ही, अपनी एक कविता, ‘हमने यह देखा’ में साफ़तौर पर वे अपी इस काव्यसंवेदना को ज़ाहिर कर देते हैं। निर्धन और शोषित जन की ओर से कविता का वाचक कहता है :

हम ही क्यों यह तकलीफ़ उठाते जायें  
दुख देने वाले दुख दें और हमारे  
उस दुख के गौरव की कविताएं गायें

यह है अभिजात तरीके की मक्कारी  
इसमें सब दुख हैं, केवल यही नहीं है  
-- अपमान, अकेलापन, फ़ाका, बीमारी

और फिर वाचक कविता के अंत में किसी सहानुभूति या करुणा की मांग नहीं करता, बल्कि वह अपने अधिकार हासिल करने का संकल्प व्यक्त करता है :

हम को तो अपने हक़ सब मिलने चाहिए  
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन  
‘कम से कम’ वाली बात न हम से कहिए

नाबराबरी और सामाजिक अन्याय का प्रतिकार ही उनकी रचनाओं का संवेदनात्मक उद्देश्य रहा। अपने एक लेख में उन्होंने स्पष्ट कहा कि ‘ग़रीबी और बेकारी, युद्ध

और गुलामी लेखक के दुश्मन हैं और मनुष्य के जानी दुश्मन हैं। उनसे ऐसा व्यवहार कीजिए जैसा दुश्मन दुश्मन के साथ करता है।' (सीढ़ियों पर धूप में, पृ.220)

आत्महत्या के विरुद्ध की रचनाओं में रघुवीर सहाय का रचनाकार मन कांग्रेस सरकार के अधीन लोकतंत्र के दुरुपयोग से आहत हो उठता है। उस दौर के ज्यादातर बुद्धिजीवियों की ही तरह वे भी संशयवाद के शिकार हो उठते हैं, उनमें इस व्यवस्था की आलोचना के लिए व्यंग्य का स्वर तेज़ हो उठता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इस लोकतंत्र में मनुष्य और मनुष्य के बीच असमानता और सामाजिक अन्याय बरकरार है। जहां उनकी पहले की कविताओं में सौंदर्य के बिंब, वास्तविक जीवन के स्वस्थ पहलू उभर उभर कर आते थे, *आत्महत्या के विरुद्ध* तक आते आते वे मौजूदा पूंजीवादी-सामंती लोकतंत्र की आड़ में शोषकवर्गों की जनवादीविरोधी कारगुजारियों के खिलाफ़ आक्रामक हो उठते हैं। इस संकलन की पहली ही कविता, 'नेता क्षमा करें' में वाचक अपना पक्ष घोषित कर देता है :

मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता न उसके साथ खाने के लिए गुम  
न मैं मिटा सकता हूँ ईश्वर के विषय में तुम्हारा संभ्रम

लोगों में श्रेष्ठ लोगो मुझे माफ़ करो  
मैं तुम्हारे साथ आ नहीं सकता।

संकलन की दूसरी कविता, 'अपने आप और बेकार' में वाचक अपने को देश के लोगों के बीच रखता, 'लोगों में श्रेष्ठ लोगों' की तरह नीत्से का महामानव नहीं बनता। यही जनवादी मूल्यों के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का सूचक है। इन श्रेष्ठ लोगों ने देश की जो दुर्गति की है, उनके प्रति व्यंग्य की मार रघुवीर सहाय की इन कविताओं में बार बार मिलती है। इस संकलन की कविता, 'नयी हंसी' में इन श्रेष्ठ लोगों' के नेतृत्व की असलियत किस तरह खोली है, वह देखने लायक है:

राष्ट्र को महासंघ का यह संदेश है  
जब मिलो तिवारी से -- हंसो -- क्योंकि तुम भी तिवारी हो  
जब मिलो शर्मा से -- हंसो --क्योंकि वह भी तिवारी है  
जब मिलो मुसद्दी से  
खिसियाओ  
जातपांत से परे  
रिश्ता अटूट है  
राष्ट्रीय झेंप का

वाचक टिप्पणी करता है कि 'एक नयी ही तरह की हंसी यह है'। आदमी और आदमी के बीच नाबराबरी और सामाजिक अन्याय पर आधारित इस व्यवस्था की विसंगतियों को कितने यथार्थपरक ढंग से रघुवीर सहाय ने, *आत्महत्या के विरुद्ध* संकलन की कविताओं में व्यंजित किया है, वह देखने लायक है। याद करें वह परिदृश्य जिसमें मंडल कमीशन के विरुद्ध अगड़ी जातियों के लोगों ने जो हल्ला मचाया था, वह जनमानस में बैठी उसी चेतना का सबूत था जिसकी बखिया इन कविताओं में उधेड़ी गयी है।

रघुवीर सहाय ने आज़ादी के दौर के जनवादी मूल्यों की जब हत्या होते देखी, तो उन्होंने एक सच्चे कलाकार की तरह उसका प्रतिरोध किया। आज़ादी के बीस बरस बाद भी जब समानता, बंधुत्व और स्वतंत्रता जैसे मानवीय मूल्यों से समाज वंचित दिखायी दिया तो उनका कविमन चीत्कार कर उठा :

बीस वर्ष  
खो गये भरमे उपदेश में  
एक पूरी पीढ़ी जनमी पली पुसी क्लेश में  
बेगानी हो गयी अपने ही देश में

अपने बचपन की आज़ादी छीन कर लाऊंगा

कांग्रेस शासन में जो अधिनायकवादी तत्व उभरते रहे, बार बार नागरिक आज़ादियां छीनी गयीं, जिनकी परिणति एमर्जेंसी में हुई, रघुवीर सहाय शासकों की इस प्रवृत्ति के बारे में बहुत पहले से सजग थे। *आत्महत्या के विरुद्ध* की कविताओं में तानाशाही प्रवृत्तियों के उभार को उन्होंने कई कविताओं में संकेतित किया था। एक कविता तो 'अधिनायक' शीर्षक से ही इस संकलन में थी जो काफ़ी मशहूर हुई थी :

राष्ट्रगीत में भला कौन वह  
भारत-भाग्य-विधाता है  
फटा सुथन्ना पहने जिसका  
गुन हरचरना गाता है  
...  
कौन कौन है वह जन-गण-मन

अधिनायक वह महाबली  
डरा हुआ मन बेमन जिसका  
बाजा रोज़ बजाता है

इस भारत-भाग्य-विधाता का खुलासा एक अन्य कविता में कवि ने कर ही दिया :

गांव गांव में दिया जन जन को  
विश्वास  
नेकराम नेहरू ने  
कि अन्याय आराम से होगा आमराय से होगा नहीं तो  
कुछ नहीं होगा  
गांव का

पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था के पोषक प्रशासकों की रीतिनीति का ऐसा व्यंग्यात्मक भंडाफोड़ हिंदी साहित्य में उस दौर के कुछ ही कवियों में मिलता है। रघुवीर सहाय का यह आलोचनात्मक यथार्थवादी स्वर आज भी प्रासंगिक है और जब तक शोषण-समाज रहेगा, तब तक 'नेकराम नेहरू' की जगह कोई और प्रशासक आकर वही नीति अपनायेगा जिससे 'अन्याय आराम से होगा आमराय से होगा' और आम जन का कुछ नहीं होगा।

उस दौर की उनकी कविताओं से यह लग सकता है कि वे लोकतंत्र के ही विरोधी थे, मगर ऐसा नहीं है। वे तो लोकतंत्र या जनवाद के मूल्यों के भ्रष्टीकरण के विरोधी थे। वे राजनीतिक नेतृत्व के उन कारनामों के विरोधी थे जिनसे नाबराबरी और सामाजिक अन्याय पर आधारित व्यवस्था मज़बूत हो रही थी और अन्याय के विरोध में उठने वाली आवाज़ दबाने के लिए तानाशाही कदमों का सहारा लिया जा रहा था। शोषकवर्गों का राजनेता कवि को भी अभिव्यक्ति की आज़ादी देने को तैयार नहीं था, उल्टे उसे आज़ादी को बाधित कर रहा था। प्रशासकों की उस तानाशाही प्रवृत्ति को रघुवीर सहाय ने अपनी साठोत्तरी कविताओं में ही पहचान लिया था जिसका गनन रूप एमर्जेंसी में सबके सामने आ गया था। 'फ़िल्म के बाद चीख़' कविता में उन्होंने व्यंग्य किया था :

संसद एक मंदिर है जहां किसी को द्रोही कहा नहीं  
जा सकता  
दूधपिये मुंहपोछे आ बैठे जीवनदानी गोंद-



दानी सदस्य तोंद सम्मुख धर  
बोले कविता में देशप्रेम लाना हरियाना प्रेम लाना  
आइसक्रीम लाना है।

एक अन्य कविता, 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में उन्होंने उन दलबदलुओं की खबर ली, जिनकी हमारे राजनीतिक परिदृश्य में आज भी कमी नहीं :

गाकर सुनाता है  
जनवादी वादों की घोषणा  
महामंत्री  
जनता के लिए नहीं  
वह विरोधियों को प्रमाण दे रहा है  
कि मैं दलबदल के लिए योग्य व्यक्ति हूँ

साठ के दशक में लिखी यह कविता भारतीय लोकतंत्र के हर दौर की सचाई खोलती है, यह रघुवीर सहाय की काव्यसंवेदना के पीछे छिपी अंतर्दृष्टि का ही कमाल है जो इस कविता को 'प्रोफ़ेटिक' बनाती है। इसी कविता का एक अंश हमारे सामाजिक यथार्थ के एक अन्य पहलू को भी उसी 'प्रोफ़ेटिक' तरीके से उजागर करता है :

बीस बरस बीत गये  
लालसा मनुष्य की तिल तिल कर मिट गयी  
अब नहीं हो सकता कोई लेखक महान  
पहले तो बाम्हन होंगे फिर ठाकुर होंगे  
फिर बारी आयेगी चमारों की  
तब तक चमार कायथ न बन गये होंगे

जातिवाद की जकड़बंदी का यथार्थ रघुवीर सहाय ने एक अन्य कविता में भी व्यंजित किया था :

...बनिया बनिया रहे  
बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे  
पर जब कविता लिखे तो आधुनिक  
हो जाये। खीसैं बा दे जब कहो तब गा दे

वी पी सिंह के नेतृत्व में जब केंद्र सरकार बनी तो मंडल कमीशन के विरोध में उत्तर भारत में सामंती विचारों की जकड़बंदी और खाल के नीचे छिपे उच्च जातिवादी अहं का खुला नंगनाच जिस तरह दिखायी दिया, जिसे पूंजीपतियों के अखबारों, उनकी पार्टियों और उनके स्वयंसेवक बुद्धिजीवियों तक ने समर्थन दिया, उससे लगता है कि रघुवीर सहाय किस तरह अपने समाज के अंतस में पैठे नाबराबरी और सामाजिक अन्याय के विषैले तत्वों की पहचान कर रहे थे और अपनी कविता में बेबाकी के साथ व्यंजित कर रहे थे। हमारे समाज के इस पहलू को शायद ही किसी कवि ने इस तरह उजागर किया हो।

*आत्महत्या के विरुद्ध* संकलन की कविताओं में जिस 'नंगी हंसी' का उल्लेख कवि ने किया था, वह एमर्जेंसी में अपने पूरे अमानवीय रूप में ठहाका बन कर सामने आ गयी। उन्हें जो आशंका थी, वही हुआ। उनकी जागरूकता का यही प्रमाण है कि उन्होंने न केवल देश के सामाजिक जीवन की दुर्दशा का चित्रण किया बल्कि पूंजीवादी सत्ता का चरित्र भी पहचाना था। *सीढ़ियों पर धूप में* के एक छोटे लेख में उन्होंने लिखा था, 'जागते रहने की एक तरकीब है -- वह यह कि वास्तविक जनजीवन के विकासोन्मुख तत्वों से अपने को सक्रिय संबद्ध करते रहें'। यही नज़रिया है जिसने उन्हें यह अहसास दिलाया कि कांग्रेस निजाम अधिनायकवाद की ओर बढ़ रहा है, वह निजाम साधारण जन की हत्या करेगा, उसकी संगठित होने की नागरिक आज़ादी की हत्या होगी यानी उसकी अभिव्यक्ति की आज़ादी छीनी जायेगी। लातीनी कथाकार गैब्रियल गार्सिया मारखेज़ के उपन्यास, *क्रोनीकल आफ़ ए डैथ फ़ोरटोल्ड* की ही तरह उन्होंने भी लिखा कि 'रामदास की हत्या होगी'। *हंसो जल्दी हंसो* संकलन की कविताएं उसी नंगी हंसी की वैविध्यपूर्ण तसवीर पेश करती हैं जो रामदास की हत्या पर ठहाका लगा सकती थी। जो मासूमियत की हंसी हंस रहे थे, उन पर निगाह रखी जा रही थी :

हंसो तुम पर निगाह रखी जा रही है

...

बेहतर है कि जब कोई बात करो तो हंसो

ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे

'दो अर्थ का भय' कविता में भी एमर्जेंसी के दौरान शब्द पर लगे अंकुश जैसे अमानवीय कृत्य का प्रतिरोध करते हुए उन्होंने लिखा :

वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं  
 जहां सुना नहीं उनका ग़लत अर्थ लिया और मुझे मारा  
 इसलिए कहूंगा मैं  
 मगर मुझे पाने दो  
 पहले ऐसी बोली  
 जिसके दो अर्थ न हों

इसीलिए दो अर्थोंवाली भाषा छोड़ कर अपनी कविताओं में उन्होंने एक बार फिर शोषकों को ललकारा :

बरसों पानी को तरसाया / जीवन से लाचार किया  
 बरसों जनता की गंगा पर / तुमने अत्याचार किया  
 ...  
 धरती के अंदर का पानी / हमको बाहर लाने दो  
 अपनी धरती अपना पानी / अपनी रोटी खाने दो

उस दौर में जन के भीतर के इस आक्रोश को व्यक्त करने के पीछे उनमें सुविकसित जनवादी मूल्यों के प्रति लगाव ही था जिन मूल्यों के लिए वे जीवन भर संघर्षरत रहे, जिनके बिना किसी भी रचनाकार और कलाकार का रचना-अस्तित्व अर्थहीन ही रहता है। शोषकवर्गों के हितों की नुमाइंदगी करने वाले जो राजनेता उन दिनों हंस रहे थे, उनकी हंसी कितनी कटु थी, इसे *हंसो हंसो जल्दी हंसो* संकलन की कविताओं में बखूबी देखा जा सकता है : 'निर्धन जनता का शोषण है / कह कर आप हंसे/ लोकतंत्र का अंतिम क्षण है / कह कर आप हंसे...।' जनता की बदहाली पर भी तानाशाही के पक्षधर हंस रहे थे। इस कटु अनुभव को वे रचनाकार ही वेदना के साथ महसूस करते हुए अभिव्यक्त कर रहे थे जिन्होंने अपने ज्ञानात्मक संवेदन से उस यथार्थ को देखा और समझा था। वे कह रहे थे :

कितने आप सुरक्षित होंगे / मैं सोचने लगा  
 सहसा मुझे अकेला पा कर / फिर से आप हंसे  
 इस तानाशाही हंसी का शिकार साधारण जन और कवि ही हुए। रघुवीर सहाय की काव्यसंवेदना उस साधारण जन की हत्या और कवि की अभिव्यक्ति की आज़ादी की हत्या पर क्षुब्ध है। ऐसी स्थिति में साधारण जन यानी 'रामदास' और कवि की वस्तुगत स्थिति एक हो जाती है, इस स्थिति की पहचान पक्षधरता के पर्सपेक्टिव

से ही की जा सकती है। जो कवि लेखक पक्षधरता का मज़ाक़ उड़ाते रहे, वे भले ही अपना पक्ष बदल कर इस भयावह यथार्थ से आंख मूंद रहे हों, रघुवीर सहाय की काव्यसंवेदना अपने क्षोभ को दबाये न रख सकी। रामदास यानी साधारण जन की हत्या का पूर्वाभास तो उन्हें आत्महत्या के विरुद्ध की कविताओं के वक़्त ही हो गया था जिसे उस संकलन की 'अधिनायक' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। तानाशाही के दौर में वह साधारण जन हरचरना से 'रामदास' बन जाता है जिसकी हत्या होनी तय है, इस पूंजीवादी-सामंती लोकतंत्र में कहर उसी रामदास पर बरपा होना है :

खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर  
दोनों हाथ पेट पर रख कर  
सधे कदम रख कर वे आये  
लोग सिमट कर आंख गड़ाये  
लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या होगी

और ये हत्यारे बार बार आते हैं, भेष बदल कर, चेहरा बदल कर और फिर हर बार वही 'राष्ट्रीय प्रतिज्ञा' दुहराते हैं :

हमने बहुत किया है  
हम ही कर सकते थे  
...  
हमने बहुत किया है  
जनता ने नहीं किया है ...  
हम फिर से बहुत करेंगे  
हमने बहुत किया है

रघुवीर सहाय शोषकवर्गीय राजनीति के इस झूठ के व्यापार से बहुत आहत होते थे। वे लोकतंत्र के इस विद्रूप को, इस विकृति को पहचानते थे, वे झूठ को झूठ कहने के खतरे को भी पहचानते थे :

जब मैंने कहा कि यह फिल्म घातक है  
इसमें मनुष्य को झूठा दिखाया है  
तो प्रधानमंत्री नाराज़ हुए -- यह व्यक्ति मेरे विरुद्ध है

रघुवीर सहाय की संवेदना में मनुष्य मनुष्य के बीच बराबरी और भाईचारे की भावना विकसित करने की तड़प हर जगह मिलती है। इस भावना को वे 'मानवीय रिश्ता' कहते थे। जो लोग साधारण जन के प्रति ममता, दया या सहानुभूति का रवैया प्रदर्शित करते हैं, उस रवैये के पीछे छिपे आभिजात्यवादी अहंकार को वे पहचानते थे और जो 'अद्वितीय' बन कर साधारण जन को भीड़ कह कर निर्दिष्ट करते हैं उनके भीतर भी वही सामंती मानव समाया हुआ उन्हें दिखायी देता था। दोनों ही तरह के रचनाकारों में यानी 'क्रांति' की लफ्फाज़ी करने वाले और अपने को महामानव समझने वाले रचनाकारों में उन्हें अहंवाद की प्रवृत्ति दिखायी देती थी क्योंकि दोनों ही तरह की प्रवृत्तियां मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी की चेतना से उपजती हैं। साधारण जन के प्रति दया या करुणा का प्रदर्शन या उसे जगाने का उपदेश कहीं न कहीं कवि में श्रेष्ठ होने के भाव की उपस्थिति तो दर्शाता ही है। इसी तरह उस जन को अपढ़, गंवार, हेय और भीड़ समझते हुए खुद को उनसे ऊपर मानने की चेतना में बसे अहंकार को सहज ही देखा जा सकता है। रघुवीर सहाय ने इन दोनों तरह की काव्यसंवेदना की तह में छिपे अभिजात अहंकार को एक ही खतरे के दो रूप की तरह माना था। *लोग भूल गये हैं* संकलन की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि 'अहंवाद को पहले के आलोचकों ने शायद पूरी तरह नहीं पहचाना था।...वास्तव में अहं खुलेआम जनसाधारण के बारे में लिखने का अहंकार करने वाले कवियों में भी हो सकता है यह आज ही प्रकट हो कर दिख रहा है।' इसी तरह अज्ञेय जैसे नीलेशवादी कवियों के खुद को 'अद्वितीय' समझने के पीछे छिपे अहंवाद को भी वे बखूबी पहचानते थे। दोनों ही तरह के रुझान समानता के जनवादी मूल्य को खंडित करते थे, इसलिए कलाकार के लिए ये रुझान सही नहीं थे। *लोग भूल गये हैं* संकलन की एक कविता, 'कला क्या है' उनकी इसी काव्यसंवेदना को बेबाक तरीके से उद्घाटित करती है :

अद्वितीय हर एक है मनुष्य  
 औ' उसका अधिकार अद्वितीय होने का  
 छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं  
 उनकी रचनाएं हों या उनके हों विचार  
 पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेट कर  
 परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं

यहां 'कला' का वही अर्थ नहीं है जो हम समझते हैं। यहां कला चालाकी का भी पर्याय बन गयी है। इसीलिए कविता के अंत में वाचक कहता है :

कला बदल सकती है क्या समाज?  
नहीं, जहां बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।

रघुवीर सहाय ने साधारण जन की कला को 'कम से कम कला है वह' बताया, और शोषकवर्गों की कला या चालाकी को 'बहुत सी कला है वह' की संज्ञा दी। यही वह स्वानुभूत संवेदना की नवीनता है जो उन्हें एक मौलिक रचनाकार ही नहीं, एक चिंतक भी बनाती हैं। इसीलिए मुक्तिबोध के बाद रघुवीर सहाय हमारे लिए बहुत ज़रूरी कवि हैं। समाज में जो छद्म दिखायी दे रहा है, उसकी सूक्ष्म परतों में पैठकर वे जो कुछ महसूस करते थे उसी को कभी सीधे सीधे, कभी फैंटेसी और कभी व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते थे। इस समाज के वर्तमान और अतीत को अपनी मिथ्या चेतना के बल पर समझने की खुशफहमी में जीने वालों को चुनौती सी देते हुए वे एक कविता में कहते हैं :

आज के समाज का मानस यही है तुम कहते हो इस कविता में  
बगैर यह जाने कि तुम कितना कम इस समाज को जानते हो  
कितना कम जानते हो तुम उस डर के कारण को  
आज की संस्कृति का जो मूल स्रोत है  
और क्या जानते हो तुम अतीत को?

लोग भूल गये हैं संकलन की कविताओं में रघुवीर सहाय बार बार यह याद दिलाते हैं कि हमारे समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों को भुलाया जा रहा है। मध्यवर्ग के हम लोग अपनी अपनी नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों के लिए तो लड़ लेते हैं मगर उन मूल्यों को भूल गये हैं जिनकी हमने आज़ादी के बाद प्रतिज्ञा ली थी। 'स्वच्छंद लेखक' कविता में बुद्धिजीवी समुदाय की इस भुलक्कड़ी आदत पर वे व्यंग्य करते हैं :

अत्याचारी का मुंह  
भूल जाते हैं  
उसके मुस्काने पर

जनवादी मूल्यवत्ता के ह्रास का माहौल उन्हें दुखी करता है, इसीलिए वे कहते हैं :

पढ़े लिखे लोगों का  
जब दिल बहलाता है  
खून किसी और का  
करता है आक्रमण  
निरक्षर निहत्थे पर  
दमन नये दौर का

रघुवीर सहाय नये दौर के दमन की सूक्ष्म प्रक्रिया को बखूबी समझते थे। आतंकवादी मुहिम और सांप्रदायिकता के फैलाव के पीछे शासकवर्गों की और जन के दुश्मनों की चालों को वे जानते थे, इसीलिए वे बेबाक तरीके से कहते थे कि 'देते हैं हथियार/शासक गरीबों को / पानी नहीं देते।' रघुवीर सहाय की कविताओं में 'पानी' का बिंब शुरू की कविताओं से ले कर अंतिम दौर की कविताओं तक बार बार आया है। पानी न सिर्फ मनुष्य की पहली ज़रूरत है, बल्कि समता और समरसता का एक प्रतीक भी है। हमारे देश की सरकारें बार बार यह घोषणा करती रहती हैं कि अमुक साल तक हर घर को पीने का पानी मुहैया हो जायेगा, मगर स्थिति वही की ही रहती है। आज भी सूखा और अकाल की स्थिति कहीं न कहीं बनी रहती है। यही हालत सामाजिक असमानता की भी है, गरीब और अधिक गरीब होता जाता है और अमीर ज़्यादा अमीर।

जैसा कि मैंने कहा है कि रघुवीर सहाय मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता और सामाजिक न्याय के पक्षधर रचनाकार थे, इसीलिए वे अपने जीवन के अंत तक ऐसे हर कृत्य के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाते रहे जिससे ये जनतांत्रिक मूल्य खंडित होते थे। अपने अंतिम कविता संकलन, *कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ* के प्रारंभिक निवेदन में उन्होंने लिखा :

जिस तरह रचनात्मकता और आज़ादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं,  
उसी तरह समता की लड़ाई और कविता भी एक ही मानवीय उत्कर्ष के पर्याय हैं।

रघुवीर सहाय की रचनाओं का यही विचारधारात्मक आधार था। एक सच्चे 'डेमोक्रेट' के रूप में उनका जीवन और रचनाकर्म इन्हीं मूल्यों से निर्देशित होता था। इसी वजह से वे तानाशाही के खिलाफ थे और इसी वजह से वे हिंदू सांप्रदायिक ताकतों को 'फ़ासिस्ट' कह रहे थे और उनकी राष्ट्रविरोधी हरकतों का पर्दाफ़ाश करते थे क्योंकि उनके अनुसार दोनों ही स्थितियाँ जनवादविरोधी हैं। ऐसी ताकतों का फ़लसफ़ा असमानता और सामाजिक अन्याय पर आधारित है। असमानता की ज़ेहनियत सूक्ष्म तरीके से हमारे आचरण में परिलक्षित होती है, रघुवीर सहाय इस ज़ेहनियत पर करारी

चोट करते थे। *कुछ पते कुछ चिट्ठियां* संकलन की कई कविताओं के उनके इसी पर्सपेक्टिव से समझा जा सकता है। 'सच क्या है' कविता में वे कहते हैं :

इस झूठे करुणामय मन को धिक्कार है  
वह दुख ही सच्चा है जो हमने झेला है

इसी तरह इसी संग्रह की एक और कविता, 'रिज़रफ़ रेल' देखें तो वहां भी असमानता के चित्र मिलेंगे। एक ओर दिख रहे हैं, 'बीमार फेफड़े, हांफते लपकते हुए/ फेंक कर गये हैं जो दिल्ली के हाज़िरी खाते में दस्तख़त / ज़रा ज़रा दूर पर', तो दूसरी ओर रिज़रफ़ रेल में, 'खास खास लोगों' के लिए 'आराम, एकांत, इंतज़ाम, स्वच्छता' है।

इसी तरह इसी संकलन में एक और कविता है, 'फूट', जिसमें वे सांप्रदायिक माहौल पर टिप्पणी करते हैं कि दंगों में मारे जाने वाले और बचे हुए के बीच भी एक असमानता का बोध काम कर रहा होता है। इसे उन्होंने एक इंटरव्यू में व्यक्त किया था (जिसे वीडियो पर जनवादी लेखक संघ ने उनकी स्मृतिसभा में दिखाया था) असमानता की चेतना सिर्फ़ यह जानने के लिए उत्सुक होती है कि जो मारा गया वह हिंदू था, या मुसलमान या सिख। ऐसा क्यों नहीं सोचा जाता कि जो मारा गया इंसान था। इसी को कविता में उन्होंने यों रचा :

हिंदू और सिख में  
बंगाली असमिया में  
पिछड़े और अगड़े में  
पर इससे बड़ी फूट  
जो मारा जा रहा और जो बचा हुआ  
उन दोनों में है

असमानता की इसी चेतना को इसी संकलन की कविता, 'इंतज़ार' में आलोचना का विषय बनाया गया है :

एक बड़े होटल के कमरे में बैठ कर  
सभी खानसामों से ऐसे मुस्कराता है  
जैसे वह शोषित के प्रति करुणाशील है

इस करुणाशीलता के पीछे छिपी असमानता की भावना और अहं की प्रवृत्ति रघुवीर



सहाय की पैनी रचना दृष्टि ने शुरू से ही पहचानी थी। इसीलिए अंत तक वे शोषकशासक वर्गों की ग़रीबों के प्रति पाखंडमयी सहानुभूति, करुणा, दया आदि की धज्जियां उड़ाते रहे। उनके आखिरी दौर के संकलन में एमर्जेसी पर एक कविता है जिससे यह जानने में देर नहीं लगती कि किस तरह एक सच्चे 'डेमोक्रेट' की तरह वे जनवादी मूल्यों के पक्षधर कलाकार थे। उन मूल्यों को वे आभूषणों की तरह प्रदर्शित करने वालों में से नहीं थे। हमारे सबके मन में बैठे शासकवर्गीय और अभिजातीय विचारों से संघर्ष की ज़रूरत वे समझते थे। मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता की भावना से लैस नये मानव की खोज उनके रचनाकर्म का संवेदनात्मक उद्देश्य था। शुरू के ही दिनों में अपने एक लेख में उन्होंने कहा था कि 'संश्लिष्ट रूप में नये मानव की खोज ही नयी कविता का धर्म है।' उनकी कविता अंत तक इसी खोज में लगी रही। मूल्यों के स्तर पर समाज को बेहतर बनाने की उनकी कामना ही उनके रचनाकर्म की प्रेरकशक्ति है। जब भी उनका सपना आहत होता था, वे वेदना महसूस करते थे और उसे अपनी रचना से संप्रेषिक करते थे। जब भी 'जन का दुश्मन' असमानता और अन्याय की कारगुजारियां करता था, वे बोलते थे, लिखते थे, अपनी रचनाओं से, अपनी पत्रकारिता से, अपनी कला से या किसी भी तरह उसे वे संप्रेषित करते थे, अभिव्यक्ति के खतरे उठा कर भी। वे शोषितजन के प्रति करुण, दया या सहानुभूति का आभिजात्यवाद पाखंड प्रदर्शित न करते थे, उस जन को अपने संघर्षों के माध्यम से शोषणमुक्त होते देखना चाहते थे क्योंकि बराबरी और सामाजिक न्याय भीख के रूप में नहीं या दया के रूप में हासिल करने के वे हामी नहीं थे। अंतिम दौर की एक कविता, 'साइकल रिक्शा' में वे चालक और सवारी के बीच की असमानता को रेखांकित करते हैं, यह भी व्यंग्य करते हैं कि एक बिंदु पर आ कर दोनों में समानता दिखायी देती है :

सिर्फ जब दुलाई पर दोनों झगड़ते हैं  
हैसियत उनकी बराबर हो जाती है

यहां दोनों शोषित होने को तैयार नहीं है, इसलिए उनकी हैसियत बराबर है। ऐसी ही हैसियत वे समाज में देखना चाहते थे जहां कोई शोषित होने को तैयार न हो, अपना बराबरी का हक़ हासिल करके रहे। वे जहां भी नाबराबरी अमल में देखते थे, उसका प्रतिकार करते थे। नाबराबरी के फ़लसफ़े को प्रचारित प्रसारित होते देखते थे और उन प्रचारकों को वे 'जन का दुश्मन' कहते थे। 'टेलिविज़न' कविता में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा :

वह चेहरा जो जिया या मर व्याकुल जिसके लिए हिया  
उसके लिए समाचारों के बाद समय ही नहीं दिया  
तब से मैंने समझ लिया है आकाशवाणी में बनठन  
बैठे हैं जो खबरों वाले सब हैं जन के दुश्मन

यह थी रघुवीर सहाय की पक्षधरता और इसी पक्षधरता से ही अनुशासित था उनका रचनाकर्म। उनके पूरे रचनात्मक साहित्य को इसी नज़रिये से व्याख्यायित किया जा सकता है। उनकी इस सूक्ष्म दृष्टि को पहचानना और उनके आलोचनात्मक यथार्थवादी अवदान को हिंदी की रचनाशीलता के लिए एक प्रेरक के रूप में देखना उनके बाद के हिंदी समाज के लिए ज़रूरी होगा। क्या ऐसा हो पायेगा?

(इंद्रप्रस्थ भारती, 1991 )

## अपने समय के आर पार देखता कवि : रघुवीर सहाय

### रघुवीर सहाय की कविता: विचारवस्तु के विविध आयाम

रघुवीर सहाय ने *दूसरा सप्तक* में दिये गये अपने वक्तव्य में कहा था कि 'विचारवस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है, और यह तभी संभव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों।' (*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ.38) जिस तरह यथार्थ के विविध आयाम होते हैं, उसी तरह यथार्थ को आधार बनाने वाली कविता भी बहुआयामी हो जाती है। रघुवीर सहाय इस मर्म को जानते थे। इसीलिए वे ऐसे रचनाकार के रूप में उभरे जिन्होंने कविता की विचारवस्तु को अपने समय और समाज के यथार्थ से तो जोड़ा ही, वे अपने समय के आर पार देख पाने में भी समर्थ हुए। रघुवीर सहाय को जब हम 'समय के आर पार देखता हुआ कवि' कहते हैं तो उनकी विचारवस्तु में सबसे पहले उनकी समय की अवधारणा पर विचार करना उचित होगा।

### समय की अवधारणा

समय के बारे में रघुवीर सहाय की एक अवधारणा उनके लेखकीय विकास के प्रारंभिक चरण में ही मिलती है। *सीढ़ियों पर धूप में* के एक गद्यांश में उन्होंने लिखा था:

रचना के लिए किसी न किसी रूप में वर्तमान से पलायन आवश्यक है। कोई कोई ही इस पलायन को सुरुचिपूर्वक निभा पाते हैं, अधिकतर लोग अतीत के गौरव में लौट जाने की भद्दी गलती कर बैठते हैं और यह भूल जाते हैं कि वर्तमान से मुक्त होने का प्रयोजन कालातीत होना है, मृत जीवन का भूत बनना नहीं। (पृ.192-93)

समय के आर पार देखने की यानी कालातीत होने की यह लेखकीय चाह रघुवीर सहाय के काव्य में भी व्यक्त होती है। इसका एक काव्यात्मक प्रयास उनकी 'घड़ी' श्रृंखला की तीसरी कविता में देखने को मिलता है :

घड़ी नहीं कहती है 'डिग' जा अपने पथ से  
 डिग जाने पर घड़ी नहीं कहती है 'धिक'  
 और यह तो वह कभी नहीं कहती है, साथी 'ठीक' है  
 वह कहती है टिक-टिक-टिक-टिक-टिक-टिक-टिक  
 और टिक-टिक-टिक-टिक  
 और टिक-टिक  
 और टिक  
 और टिक  
 और टिक  
 टिक् ।

(घड़ी-3, रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 81)

यहां जो 'टिकने' की टेक है, वह सिर्फ ध्वनियों का खेल नहीं है, बल्कि वह मेटाफिज़िकल अहसास है जिसके बगैर बड़ी कविता, बल्कि कोई भी रचनात्मक कर्म संभव नहीं है। गौतम बुद्ध के सामने भी तो यही सवाल खड़ा हो गया था कि क्या समय के आगे टिक पाना किसी भी तरह संभव नहीं है। राजकुमार के रूप में जब उन्होंने वृद्ध पुरुष को या शव को देखकर जो प्रतिक्रिया की थी, वह इसी तरह के कालबोध की सूचक थी। उनकी उस अकुलाहट ने ही उन्हें दार्शनिक स्तर पर टिक पाने की राह सुझायी। महाभारत में प्यासे युधिष्ठिर को यक्ष के हाथों मारे गये भाइयों को जीवित कराने के लिए यक्ष की जिस प्रश्नमाला के उत्तर देने पड़े, उसमें एक प्रश्न, 'किमाश्चर्यम्', के उत्तर में इस टिकने या स्थायित्व की लालसा को ही तो रचनाकार ने युधिष्ठिर के माध्यम से रेखांकित किया था :

अहनि अहनि भूतानि गच्छन्ति यममंदिरम् ।  
 शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

इस 'स्थिरत्व' की इच्छा या समय के आर पार जाने की इच्छा आधुनिक संदर्भ में समाज से जुड़े बगैर संभव नहीं, यह आध्यात्मिकता के मकड़जाल में फंसे किसी अज्ञेय या एलियट की तरह की विचारसरणि भी नहीं जो संसार और समाज को भवसागर समझ कर उससे मुक्ति में अमरता की खोज करते रहे, जैसा कि अज्ञेय के 'उछली हुई एक मछली' के बिंब या 'एक बूंद सहसा उछली' के बिंब में दिखती है। रघुवीर सहाय जानते थे कि अमरता जनसमाज ही प्रदान करता है और काल के पार जाने के लिए अपने देश और समाज के अतीत, वर्तमान और भविष्य की चिंता

करना संवेदनशील रचनाकार के बौद्धिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। रघुवीर सहाय की एक कविता, 'भविष्य' इस चिंता का इज़हार करती है :

सब कुछ लिखा जा चुका है अतीत में  
यह आकर मत कहो मुझसे पंडितजनो  
एक बात अभी लिखी नहीं गयी बाकी है  
होने को भी बाकी लिखी जाय या न जाय  
वह तुम जानते हो क्या?

यह जो समझ है इतिहास की भ्रष्ट है  
यह अत्याचार को शश्वत रखने की  
अन्यायी भाषा है कि जिसके प्रतिष्ठान में विद्या बंद है  
विद्या जो मुक्त हमें करती है वह विद्या

(‘लोग भूल गये हैं’, र.स.रचनावली-1, पृ. 212-13)

### रघुवीर सहाय की कविता का वैचारिक आयाम

समय के आर पार देखने के लिए एक 'विज्ञान' या विचारधारात्मक दृष्टि की ज़रूरत पड़ती है। रघुवीर सहाय ने अपने श्रम और प्रतिभा से उस 'विज्ञान' या उस 'विद्या' को हासिल किया था जो हमें मुक्त करती है। जिस तरह आज़ादी के दौर में वे ही रचनाकार महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर पाये जो अपने समय के शसक-शेषक वर्गों की सही पहचान रखते थे। भारत की आज़ादी और भारतीय समाज के वर्गीय गठन की जितनी गहरी पहचान जिस लेखक को थी, भारतीय जीवन को जितनी गहराई से जो लेखक जानता था, वह उतनी ही शिद्दत के साथ मुक्ति के एजेंडे के लिए प्रतिश्रुत था। प्रेमचंद इसीलिए ऐसे रचनाकार बन पाये क्योंकि उन्होंने लगातार श्रम करके एक ऐसा 'विज्ञान' हासिल किया जिससे वे सही 'मुक्तिमार्ग' तक पहुंचने में सफल हुए। ऐसे रचनाकार ही वर्तमान को अतिक्रमित करके भविष्य के व्याख्याकार भी बन पाते हैं। मुक्तिबोध में इसी तरह एक 'विज्ञान' विकसित हुआ था, जिसकी वजह से वे अपने वर्तमान की सही व्याख्या करने में सक्षम तो हुए ही, भविष्य का एक स्वप्न भी दे गये जिसे साकार किया जा सकता है। वैज्ञानिक विश्वदृष्टि अपना कर वे ऐसे सत्य वचन लिख गये जिन्हें हम अपने समय में भी अपने आसपास घटित होते देख चुके हैं। 'एक स्वप्न कथा' में मुक्तिबोध इसी विश्वदृष्टि या 'विज्ञान' से 'स्फूर्तिमय भाषा प्रवाह में/ जगमगा उठते हैं भिन्न भिन्न मर्म केंद्र/ सत्यवचन,/ स्वप्न दृग कवियों के तेजस्वी उद्धरण,/ सम्भावी युद्धों के भव्य क्षण आलोड़न,/ विराट

चित्रों में / भविष्य आस्फालन/ जगमगा उठता है ।' (मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 263)

रघुवीर सहाय ने भी अपने समय और समाज को काफी गहराई में उतर कर देखा था। रघुवीर सहाय ने लिखा था, 'समाज की समझ का मतलब है, समाज में मनुष्य और मनुष्य के बीच जितने गैरइंसानी रिश्ते हैं उनकी समझ-- कहां से वे पैदा होते हैं इसकी समझ और उनकी जड़ों तक पहुंच इतिहास की समझ।' (लिखने का कारण, पृ.158) वे यह भी मानते थे कि 'अगर इंसान और इंसान के बीच एक गैरबराबरी का रिश्ता है और उस रिश्ते को कोई आदमी मानता है कि ऐसे ही रहना चाहिए, तो वह कोई रचना नहीं कर सकता। (वही, पृ.147) उन्होंने आज़ादी के बाद के भारतीय समाज में नाबराबरी के सामंती मूल्य को बहुत ही सूक्ष्मता से पहचाना था क्योंकि नाबराबरी की चेतना बने रहने से लोकतंत्र या जनवाद विकसित नहीं हो सकता, बल्कि अधिनायकवाद के पनपने के लिए ज़मीन तैयार होती है। *आत्महत्या के विरुद्ध* संकलन में एक कविता, 'अधिनायक' इसी ओर संकेत करती थी :

राष्ट्रगीत में भला कौन वह  
भारत भाग्य विधाता है  
फटा सुथन्ना पहने जिसका  
गुन हरचरना गाता है

कौन कौन है वह जनगण मन  
अधिनायक वह महाबली  
डरा हुआ मन बेमन जिसका  
बाजा रोज़ बजाता है ।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 111)

अपने समय में इस अधिनायक को उन्होंने ठीक ही सत्ताधारी कांग्रेस के नेतृत्व में देखा था क्योंकि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच बराबरी लाने के बजाय अमीर को और अधिक अमीर व गरीब को और गरीब बनाने के पूंजीवादी रास्ते पर चल रही थी, सामंतवाद का खात्मा करने के बजाय उसने भूस्वामीवर्ग से भी समझौता कर रखा था। सुरेश शर्मा ने बिल्कुल सही कहा कि 'हिंदुस्तान में घट रहे वर्तमान आत्यंतिक अत्याचारों के पीछे पूंजीवाद और सामंतवाद का सम्मिलित चेहरा है। रघुवीर सहाय अपने कविकर्म से इस चेहरे पर प्रहार करते हैं।' (रघुवीर सहाय का कविकर्म, पृ.132) रघुवीर सहाय ने साठ के दशक में कांग्रेस के नेतृत्व के बारे में चुटकी लेते हुए भारत के सत्ताधारी वर्गों के वर्गचरित्र की असलियत खोल दी थी, उस जनगण मन

अधिनायक की व्याख्या एक कविता में यों कर दी थी जिसने जन जन में यह विश्वास पैदा कर दिया था कि अब कांग्रेस 'समाजवादी पैटर्न की समाज रचना' करेगी :

गांव गांव में दिया जन जन को  
 विश्वास  
 नेकराम नेहरू ने  
 कि अन्याय आराम से होगा आगराय से होगा नहीं तो  
 कुछ नहीं होगा  
 गांव का

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 142)

आज़ादी के बाद के भारत का समय इस अन्याय की गाथा से भरा हुआ था, रघुवीर सहाय ने इस समय के भीतर झांक कर ही यह पाया कि यहां मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी का रिश्ता बरकरार है, उनकी कविता का केंद्रीय संवेदन इस नाबराबरी के रिश्ते की गहरी पड़ताल से जुड़ा हुआ है और उनकी कविताओं और कहानियों को समझने में इसी केंद्रीय संवेदन से मदद मिलती है। वे जानते थे कि भारतीय समाज में एक ओर वे अधिनायकवादी ताकतें हैं जो लोकतंत्र के माध्यम से भी शोषण और नाबराबरी की परंपरा को बनाये हुए हैं और दूसरी ओर इनसे संघर्ष करती हुई ताकतें भी हैं किंतु वे अभी कमज़ोर हैं। फिर भी वे सोचते थे कि यह संघर्ष चलता रहेगा और कवि को इसकी पहचान करते हुए अपना रचनाकर्म करना चाहिए। दर असल, समय के आर पार देखने का यही अर्थ है। उन्होंने अपने काव्य संकलन, *लोग भूल गये हैं*, की भूमिका में लिखा :

जहां तक हृदय का सवाल है, कम से कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते, इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपने आंतरिक संघर्ष की जांच के लिए कवि अपनी रचना लाता है चाहे रचने के एकांत के बीच में से उठकर ही क्यों न आना पड़े ।

(रचनावली-1, पृ. 203)

'न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श' को बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर कवि रघुवीर सहाय ने अपनी चेतना में आत्मसात किया था। उन्हें दया, सहानुभूति और करुणा जैसे मानवीय भावों में भी कहीं न कहीं नाबराबरी और आभिजात्यवादी अहं की बू

आती महसूस होती थी। अपनी इस रचनात्मक संवेदना को उन्होंने कहानियों और गद्य में तो सीधे सीधे बयान किया ही है, वही संवेदना कविताओं के भीतर भी सूत्र की तरह पिरोयी हुई है। *सीढियों पर धूप में*, की एक कविता, 'हमने यह देखा' में साफ़तौर से उन्होंने अपनी इस काव्य संवेदना को अभिव्यक्त किया :

हम ही क्यों तकलीफ़ उठाते जायें  
दुख देने वाले दुख दें और हमारे  
उस दुख के गौरव की कविताएं गायें

यह है अभिजात तरीके की मक्कारी  
इसमें सब दुख हैं, केवल यही नहीं है  
अपमान, अकेलापन, फाका, बीमारी

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 66)

और वाचक अंत में किसी सहानुभूति या दया या करुणा की मांग नहीं करता, जन की ओर से सारे अधिकार हासिल करने के संघर्ष का ऐलान करता है :

हमको तो अपने हक सब मिलने चाहिए  
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन  
'कम से कम' वाली बात न हम से कहिए  
(वही, प .67)

नाबराबरी और सामाजिक अन्याय का प्रतिकार ही उनकी रचनाओं का संवेदनात्मक उद्देश्य रहा। अपने एक लेख में उन्होंने स्पष्ट कहा : 'ग़रीबी और बेकारी, युद्ध और गुलामी लेखक के दुश्मन हैं और मनुष्य के जानी दुश्मन हैं। उनसे ऐसा ही व्यवहार कीजिए जैसा दुश्मन दुश्मन के साथ करता है।' (*सीढियों पर धूप में*, पृ. 220)

*आत्महत्या के विरुद्ध* की रचनाओं में रघुवीर सहाय का रचनाकार पूंजीवादी जनतंत्र की आड़ में किये जा रहे शोषण, दमन और अन्याय के खिलाफ़ विद्रोह करता है। उस दौर के ज़्यादातर बुद्धिजीवी एक तरह के संशयवाद (सिनिजिज़्म) के शिकार हो गये थे जो साठोत्तरी कविता में हमें दिखायी देता है। उस समय कवियों को लग रहा था कि 'जब सब कुछ ऊल ही जलूल है / तो सोचना फ़िजूल है' (कैलाश वाजपेयी) इसीलिए उस दौर में व्यवस्था के प्रति कवियों का आलोचनात्मक रुख तेज़ हो गया था। रघुवीर सहाय का रचनाकार यह महसूस कर रहा था कि पूंजीवादी जनतंत्र में भी मनुष्य और मनुष्य के बीच असमानता और सामाजिक अन्याय का



बोलबाला है, इस व्यवस्था में भी गरीब को रोटी नसीब नहीं हो रही। उक्त संकलन की पहली ही कविता, 'नेता क्षमा करें', में उन्होंने लिखा :

मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता न उसके साथ खाने के लिए गुम  
न मिटा सकता हूँ ईश्वर के विषय में तुम्हारा भ्रम

लोगों में श्रेष्ठ लोगो मुझे माफ़ करो  
मैं तुम्हारे साथ आ नहीं सकता ।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 118)

संकलन की दूसरी कविता 'अपने आप और बेकार' में वाचक अपने को देश के लोगों के बीच रखता है। यही उसका जनवादी मूल्य है कि वह अपने को उनके बराबर रखता है, 'लोगों में श्रेष्ठ लोगों' के साथ नहीं। इन 'श्रेष्ठ लोगों' ने देश की जो दुर्गति की है, उसके प्रति रघुवीर सहाय की कविताओं में व्यंग्य की मार बार बार मिलती है। एक कविता 'नयी हंसी' में इन 'श्रेष्ठ लोगों' के नेतृत्व पर जो करारा व्यंग्य किया है, वह देखने लायक है :

राष्ट्र को महासंघ का यह संदेश है  
जब मिलो तिवारी से ... हंसो ... क्योंकि तुम भी तिवारी हो  
जब मिलो शर्मा से ... हंसो ... क्योंकि वह भी तिवारी है  
जब मिलो मुसद्दी से  
खिसियाओ  
जातपांत से परे  
रिश्ता अटूट है  
राष्ट्रीय झेंप का

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 134)

वाचक टिप्पणी करता है कि 'एक नयी ही तरह की हंसी यह है'। रघुवीर सहाय ने आज़ादी के दौर में अर्जित नये मूल्यों की जब जब हत्या होते देखी, उन्होंने एक सच्चे कलाकार की तरह उसका प्रतिरोध किया। आज़ादी के बीस बरस बाद भी जब समानता, बंधुत्व और आज़ादी जैसे जनवादी मूल्यों से साधारण जन वंचित रहे तो उनका रचनाकार चीत्कार कर उठा। उन्होंने लिखा :

बीस वर्ष  
खो गये भरमे उपदेश में

एक पूरी पीढ़ी जनमी पली पुसी क्लेश में  
 बेगानी हो गयी अपने ही देश में  
 वह  
 अपने बचपन की  
 आज़ादी छीनकर लाऊंगा

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 110-11)

साठोत्तरी दौर के हिंदी साहित्य में मोहभंग की जो अनुगूँज सुनायी देती है, उस अनुगूँज में रघुवीर सहाय की आवाज़ भी शामिल थी। उनकी उस समय की कविताओं को देख कर किसी को यह लग सकता है कि वे लोकतंत्रविरोधी थे। मगर सचाई यह है कि वे लोकतंत्र के मूल्यों के भ्रष्टीकरण से आहत थे। वे शासकों के उन कारनामों से दुखी हो रहे थे जिनसे अन्याय और नाबराबरी को ही बढ़ावा मिलता था। शोषक वर्गों की नुमाइंदगी करने वाले राजनेता किसी रचनाकार को भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं देना चाहते थे। राजसत्ता की यह प्रवृत्ति एमर्जेन्सी में एक सचाई बनकर सामने आ गयी जब कविता पर भी सेंसरशिप लागू हो गयी थी। 'फिल्म के बाद चीख' कविता में रघुवीर सहाय ने शोषकवर्गों द्वारा साहित्य के 'रेजीमेंटेशन' के बारे में चुटकी लेते हुए लिखा :

संसद एक मंदिर है जहां किसी को द्रोही कहा नहीं  
 जा सकता  
 दूधपिये मुंहपोंछे आ बैठे जीवनदानी गोंद  
 दानी सदस्य तोंद सम्मुख धर  
 बोले कविता में देशप्रेम लाना हरियाना प्रेम लाना  
 आइसक्रीम लाना है

(वही, पृ. 117)

साठोत्तरी बरसों में लिखी गयी बहुत सी कविताएं अपने समय के आर आर जाती हुई आज के यथार्थ की रचनाएं बन जाती हैं। उस समय भारतीय राजनीति में पूंजीवादी दलों में दलबदल की बीमारी इस तरह हावी नहीं हुई थी जैसी कि आज है। मगर रघुवीर सहाय के पास ऐसा 'विज़न' था, ऐसी दृष्टि थी जिससे वे यह समझते थे कि भारतीय अवाम पर राज बरकार रखने के लिए पूंजीवादी-सामंती तत्व धन का प्रभाव फैला कर दलबदल की राजनीति को बढ़ावा देंगे और इस तरह खरीद फ़रोख़्त द्वारा शोषण सत्ता को कोई आंच नहीं आ पायेगी जबकि दलबदल की यह

राजनीति आकर्षक जनवादी नारों के तानेबाने और नये नये वायदों के साथ देश पर हावी होगी। रघुवीर सहाय ने 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में इस स्थिति को यों व्यक्त किया :

गा कर सुनाता है  
जनवादी वादों की घोणा  
महामंत्रि  
जनता के लिए नहीं  
वह विरोधियों को प्रणाम दे रहा है  
कि मैं दलबदल के लिए योग्य व्यक्ति हूँ  
(रचनावली-1, पृ. 137)

इस कविता का अंत भी एक ऐसी सचाई से होता है जो हमारे समाज में आज भी बरकरार है और रघुवीर सहाय ने इसे अपनी विश्लेषण-क्षमता से पहले ही आंक लिया था :

बीस बरस बीत गये  
लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी  
अब नहीं हो सकता कोई लेखक महान  
पहले तो बाम्हन होंगे फिर ठाकुर होंगे  
फिर बारी आयेगी चमारों की  
तब तक चमार कायथ न बन गये होंगे  
(वही, पृ. 139)

भारतीय समाज पर जातिवाद की इस कठिन जकड़बंदी को कवि ने गहराई से महसूस किया था। यह रोग हमारे संस्कारों का एक हिस्सा बन गया है और इससे कथनी और करनी में भेद भी दिखायी देता है क्योंकि इस जकड़बंदी से मुक्त हो पाना सरल नहीं है :

बनिया बनिया रहे  
बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे  
पर जब कविता लिखे तो आधुनिक  
हो जाये। खीसें बा दे जब कही तब गा दे।  
(वही, पृ.108)

मंडल कमीशन की सिफारिशों के लागू करने के समय उत्तर भारत में स्वर्ण मानसिकता का जो इज़हार बड़े बड़े आधुनिकतावादियों ने किया था, उसका अहसास शायद रघुवीर सहाय को पहले से था। इसीलिए उन्हें हम समय के आर पार देखता कवि कहते हैं।

*आत्महत्या के विरुद्ध* की कविताओं में जिस 'नयी हंसी' की चर्चा रघुवीर सहाय ने की थी, वह आपात्काल के दौरान एक अमानवीय ठहाका बन कर सामने आ गयी। उन्हें जिस अधिनायकवाद की आशंका थी, वही हुआ। उनकी जागरूकता का यही प्रमाण है कि उन्होंने देश के वास्तविक जनजीवन की दुर्दशा को देखने समझने के लिए एक अंतर्दृष्टि हासिल की थी। इसके लिए उन्होंने जो रास्ता चुना था उसे एक जगह स्पष्ट भी कर दिया था। *सीढ़ियों पर धूप में* के एक छोटे से लेख में उन्होंने लिखा था : 'जागते रहने की एक तरकीब है -- वह यह कि वास्तविक जनजीवन के विकासोन्मुख तत्वों से अपने को सक्रिय संबद्ध करते रहें।' अपनी इसी संबद्धता के कारण अपने समय के आरपार देखने की क्षमता रघुवीर सहाय हासिल कर सके। उन्हें यह अहसास हो गया था कि पूंजीवादी-सामंती वर्गों का हितसाधन करने वाली कांग्रेस पार्टी अधिनायकवाद की ओर बढ़ रही है। *हंसो हंसो जल्दी हंसो* संकलन की कविताएं सत्तारूढ़ तानाशाह की निर्मम हंसी का एक खाका पेश करती हैं :

हंसो तुम पर निगाह रखी जा रही है

बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हंसो  
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे।

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 168)

इसी तरह उक्त संकलन की 'दो अर्थ का भय' कविता में भी आपात्काल में शब्द पर लगे अकुंश का प्रतिरोध करते हुए रघुवीर सहाय ने लिखा :

वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं  
जहां सुना नहीं उनका ग़लत अर्थ लिया और मुझे मारा  
इसलिए कहूंगा मैं  
मगर मुझे पाने दो  
पहले ऐसी बोली  
जिसके दो अर्थ न हों

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 157)

द्विधात्मक भाषा छोड़कर रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं से एक बार फिर शोषकवर्गों की राजनीति को ललकारा। उनके रचनाविकास की एक नयी मंज़िल उनकी उस दौर की कविताओं में देखने को मिलती है जिसमें वे अपने शोषित समाज की व्यथा कथा कहते हैं :

बरसों पानी को तरसाया  
जीवन से लाचार किया  
बरसों जनता की गंगा पर  
तुमने अत्याचार किया

धरती के अंदर का पानी  
हमको बाहर लाने दो  
अपनी धरती अपना पानी  
अपनी रोटी खाने दो

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, प .158)

शोषकवर्गों की हितसाधक राजनीति उस समय कितनी निर्मम हो कर हंस रही थी, उसे रघुवीर सहाय ने हंसो हंसो जल्दी हंसो की कविताओं में बगैर किसी लागलपेट के सीधी सीधी भाषा में रख दिया, 'निर्धन जनता का शोषण है / कहकर आप हंसे / लोकतंत्र का अंतिम क्षण है / कहकर आप हंसे'। उस राजनीति के पिछलग्गू अपने को सुरक्षित महसूस कर रहे थे, इसका अहसास भी वाचक को था :

कितने आप सुरक्षित होंगे  
मैं सोचने लगा  
सहसा मुझे अकेला पा कर  
फिर से आप हंसे

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ.163)

रघुवीर सहाय ने मध्यवर्गीय समाज को यह अहसास दिलाया कि अकेले अकेले हर कोई अधिनायकवादी ताकतों के हाथों मारा जायेगा। अधिनायकवादी ताकतों के खिलाफ अगर संगठित नहीं होंगे तो हर 'रामदास की हत्या होगी'। अकेले व्यक्ति की हत्या का मर्मभेदी चित्र खींच कर एक तरह से उन्होंने हम सब को आगाह किया:

खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर  
दोनों हाथ पेट पर रखकर

सधे कदम रख करके आये  
लोग सिमट कर आंख गड़ाये  
लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या होगी

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, प .169)

मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी प्रायः पक्ष लेने से कतराते हैं और सोचते हैं कि वे सुरक्षित हैं। रघुवीर सहाय इस कविता के माध्यम से यह संकेत देते हैं कि पक्ष न लेने से ही रामदास की हत्या होती है और इस हत्या के मूकदर्शक बने मध्यवर्ग की निष्क्रियता के कारण ही अधिनायकवाद आम आदमी का दमन और शोषण कर पाता है। इस कविता में जो चित्र रामदास का खींचा गया है, वह मध्यवर्ग का भी हो सकता है। वह भी 'बीच सड़क पर' खड़ा है, न इधर है और न उधर। वह भी अपने 'पेट' की रक्षा में सबसे अधिक जुटा हुआ है, 'दोनों हाथ पेट पर रख कर'। इस कविता की यही व्यंजना शक्ति है कि रामदास यानी साधारण जन और मध्यवर्ग दोनों की नियति एक है, यदि मारे जायेंगे तो दोनों ही मारे जायेंगे और मुक्ति हासिल करेंगे तो दोनों ही करेंगे। यदि एक दूसरे के मारे जाने को तमाशई की तरह देखते रहेंगे तो दोनों की हत्या होगी। रघुवीर सहाय इस कविता के माध्यम से एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक सच कह जाते हैं। इसी तरह का ऐतिहासिक सच मुक्तिबोध ने भी अपनी प्रसिद्ध कविता, 'अंधेरे में' के वाचक से कहलवाया :

गलियों में अंधकार भयावह  
मानो मेरे कारण ही लग गया  
मार्शल लॉ वह,  
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया,  
मानो मेरे कारण ही दुर्घट  
हुई यह घटना

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 334)

मध्यवर्ग भी पूंजीवादी सामंतीवर्गों की राजनीति के झांसे में आता रहता है और थोड़ी सी सुख सुविधा हासिल होते ही गरीब जनता से मुंह मोड़ लेता है। शोष्कवर्ग नये नये नारे दे कर जनता को भुलावे में डाले रहते हैं। रघुवीर सहाय इस झूठ को समझते थे और उसे अपनी व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त करते थे :

हमने बहुत किया है  
हम ही कर सकते हैं

हमने बहुत किया है  
जनता ने नहीं किया है  
हम फिर से बहुत करेंगे  
हमने बहुत किया है ।

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 182-83)

इन पंक्तियों में आयरनी का सफल प्रयोग है, राजसत्ता जब यह कह रही है कि 'हमने बहुत (?) किया है' तो उसमें यह अर्थ भी ध्वनित कराया गया है कि 'हमने बहुत अत्याचार किया है'। रघुवीर सहाय राजनीतिज्ञों के झूठ से बहुत आहत होते थे। वे पूंजीवादी राजनीति की इस विकृति को पहचानते थे और झूठ को झूठ कहने में संकोच नहीं करते थे :

जब मैंने कहा कि यह फिल्म घातक है  
इसमें मनुष्य को झूठा दिखाया है  
तो प्रधानमंत्री नाराज़ हुए - यह व्यक्ति मेरे विरुद्ध है।

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 189)

रघुवीर सहाय की कविताओं में अधिनायकवाद की एक और प्रवृत्ति पर भी चोट है, वह है 'अहंकार' की प्रवृत्ति। यह अहंकार भी मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी की भावना (जो कि काफ़ी गहरे तक हमारे समाज में घर किये बैठी है) से ही पैदा होता है। ऊपर उद्धृत कविता, 'हमने बहुत किया है' में भी वही आभिजात्यवादी अहंकार की हुंकार रेखांकित की गयी है। आभिजात्यवादियों द्वारा दिखायी जाने वाली करुणा और सहानुभूति भी इसी अहंकार की एक बदली हुई शक्ति है जो नाबराबरी की भावना से पैदा होती है। रघुवीर सहाय ने चेतना में रची बसी इस नाबराबरी की भावना को जिससे अहंकार का जन्म होता है बहुत बारीकी से पहचाना था और अपने समकालीन कवियों में भी उसे चिन्हित किया था। जो कवि 'अद्वितीय' होने के दंभ से पीड़ित थे वे भी नाबराबरी की भावना से ही परिचालित होते थे और जो 'अतिक्रांतिकारी' शब्दाडंबर में सर्वहारावर्ग को मुक्त कराने का दंभ पाले हुए थे, वे भी मध्यवर्गीय अहं से पीड़ित थे। *लोग भूल गये हैं* की भूमिका में रघुवीर सहाय ने स्पष्ट लिखा कि 'अहंवाद को पहले के आलोचकों ने शायद पूरी तरह नहीं पहचाना था। वास्तव में अहं खुलेआम जन साधारण के बारे में लिखने का अहंकार करने वाले कवियों में भी पहले हो सकता है यह आज ही प्रकट हो कर दिख रहा है।' अज्ञेय

आदि की 'अद्वितीयता' की अहंवादी ग्रंथि का भी सारतत्व आभिजात्य से जुड़ा हुआ है। 'लोग भूल गये हैं' की पहली ही कविता, 'कला क्या है' में इस सचाई को रघुवीर सहाय ने यों रखा :

अद्वितीय हर एक है मनुष्य  
और उसका अधिकार अद्वितीय होने का  
छिनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं  
उनकी रचनाएं हों या उनके हों विचार  
पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेट कर  
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 205)

यहां 'कला' का अर्थ सिर्फ वही नहीं है जिसे हम समझते हैं, यहां कला चालाकी का भी पर्याय बन गयी है। इसीलिए कविता के अंत में वाचक कहता है कि

कला बदल सकती है क्या समाज ?  
नहीं, जहां बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा ।  
(वही, पृ.206)

रघुवीर सहाय ने साधारण जन की कला को 'कम से कम कला' बताया और शोषक वर्गों की कला या चालाकी को 'बहुत सी कला है वह' कहा। यही वह स्वानुभूत संवेदना की नवीनता है जो उन्हें एक विशिष्ट रचनाकार ही नहीं, एक चिंतक भी बनाती है। समाज में जो कुछ दिखायी दे रहा है, उसकी सूक्ष्म परतों में पैठकर जो अनुभव करते थे उसी को कभी सीधे सीधे और कभी व्यंग्य और कभी फैंटेसी के रूप में व्यक्त करते थे। इस समाज के वर्तमान और अतीत को मिथ्या चेतना के बल पर जानने वालों को वे चुनौती देते चलते हैं। 'लोग भूल गये हैं' कविता में वे कहते हैं :

आज के समाज का मानस यही है तुम कहते हो इस कविता में  
बगैर यह जाने कि तुम कितना कम इस समाज को जानते हो  
कितना कम जानते हो तुम उस डर के कारण को  
आज की संस्कृति का जो मूल स्रोत है।  
और क्या जानते हो तुम अतीत को ?

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 225)



लोग भूल गये हैं की कविताओं में रघुवीर सहाय बार बार यह याद दिलाते हैं कि हमारे समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों को भुलाया जा रहा है। मध्यवर्ग के हम लोग अपनी नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार के लिए तो लड़ लेते हैं मगर उन मूल्यों को भूल गये हैं जिनकी हमने आज़ादी के समय प्रतिज्ञा ली थी। ‘स्वच्छंद लेखक’ कविता में बुद्धिजीवी समुदाय की इस भुलक्कड़ी आदत पर वे व्यंग्य करते हैं कि ‘अत्याचारी का मुंह / लोग भूल जाते हैं / उसके मुस्काने पर (वही, पृ. 254)।

जनवादी मूल्यवत्ता का ह्रास उन्हें दुखी करता है और उस संवेदनहीनता पर वे चोट करते हैं जो इस दौर में बुद्धिजीवी समुदाय की आदत बनती जा रही है :

पढ़े लिखे लोगों का  
जब दिल बहलाता है  
खून किसी और का  
करता है आक्रमण  
निरक्षर निहत्थे पर  
दमन नये दौर का  
(वही, पृ. 255)

रघुवीर सहाय नये दौर के दमन की महीन प्रक्रिया को बखूबी समझते थे। आतंकवाद की मुहिम और सांप्रदायिकता के फैलाव के पीछे शासकवर्गों की और जन के दुश्मनों की चालों को वे भलीभाँति समझते थे, इसीलिए वे बेबाक तरीके से कहते थे कि ‘देते हैं हथियार / शासक गरीबों को / पानी नहीं देते’। (वही, पृ. 256) पोखरण में अणुअस्त्र विस्फोट के बाद नयी सदी की पहली गरमी के दिनों में पानी की कमी ने पूरे राजस्थान और गुजरात में अकाल की जो स्थिति पैदा कर दी थी, वह कवि की उक्त पंक्तियों में पूरी तरह झलकती है।

रघुवीर सहाय की कविता में ‘पानी’ का बिंब शुरू की कविताओं से ले कर अंत तक बार बार आया है। पानी न सिर्फ मनुष्य की पहली जरूरत है बल्कि समता और समरसता का प्रतीक भी है। हमारे समाज में पूंजीवादी सरकारें बारबार यह घोषणा करती हैं कि अमुक साल तक हर किसी के लिए पीने के पानी की व्यवस्था हो जायेगी। मगर यह वायदा कभी पूरा नहीं होता। आज भी अकाल और सूखा की स्थितियां कहीं न कहीं बनी रहती हैं। रघुवीर सहाय की रचनाओं में यही विसंगति सामाजिक असमानता के रूप में चित्रित होती है।

### रचनात्मक लक्ष्य

जैसा कि कहा जा चुका है कि रघुवीर सहाय मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता और सामाजिक न्याय की लड़ाई के प्रति अपने को प्रतिश्रुत किये हुए थे, इसीलिए वे ऐसी हर अमानवीय और क्रूर हरकत के खिलाफ आवाज़ उठाते थे जिससे समानता और भाईचारे के जनवादी मूल्य खंडित होते थे। अपने कविता संकलन, *कुछ पते कुछ चिट्ठियां* के प्रारंभिक निवेदन में उन्होंने लिखा कि 'जिस तरह रचनात्मकता और आज्ञादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं, उसी तरह समता की लड़ाई और कविता भी एक ही मानवीय उत्कर्ष के पर्याय हैं।' (*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 262) उन की कविता का यही वैचारिक आधार था जिसने उन्हें समय के आर पार देखता कवि या कालातीत रचनाकार बनाया है। अपनी इसी जनवादी आधारभूमि पर खड़े होने की वजह से वे तानाशाही के खिलाफ थे और इसी वजह से वे हिंदू सांप्रदायिक तत्वों को ठीक ही 'फ़ासिस्ट' की संज्ञा दे रहे थे और उनकी तमाम राष्ट्रविरोधी हरकतों का पर्दाफाश कर रहे थे क्योंकि ये दोनों ही विकृतियां जनवादी मूल्यों के विरुद्ध हैं। असमानता की ज़ेहनियत सूक्ष्म तरीके से हमारे आचरण में परिलक्षित होती है, रघुवीर सहाय इस ज़ेहनियत के आलोचक थे। *कुछ पते कुछ चिट्ठियां* संकलन की कविताओं में से कई कविताओं को उनके इसी विचारबिंदु से समझा जा सकता है। 'सच क्या है' कविता में वे लिखते हैं :

इस झूठे करुणामय मन को धिक्कार है  
वह दुख ही सच्चा है जो हमने झेला है

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, प .270)

इसी तरह उक्त संग्रह की एक और कविता 'रिज़रफ़ रेल' को देखें तो वहां भी असमानता के ही चित्र मिलेंगे। एक ओर हैं, 'बीमार फेफड़े, हांफते लपकते हुए / फेंक कर गये हैं जो दिल्ली के हाज़िरी खाते में दस्तख़त / ज़रा ज़रा दूर पर', तो दूसरी तरफ़ 'रिज़रफ़ रेल' में 'खास खास लोगों' के लिए 'आराम, एकांत इंतज़ाम, स्वच्छता' आदि है। (वही, पृ. 271) इसी तरह इस संकलन में एक कविता है, 'फूट', जिसमें वे आज की सांप्रदायिकता के माहौल पर टिप्पणी करते हैं कि दंगों में मारे जाने वाले और बचे हुए लोगों के बारे में भी हमारे भीतर एक असमानता की चेतना काम कर रही होती है। इसे उन्होंने अपने एक इंटरव्यू में भी कहा था। असमानता की चेतना सिर्फ़ यह जानने की कोशिश करती है कि जो मारा गया वह हिंदू था या मुसलमान या सिख, वह ऐसा नहीं सोचने देती कि जो मारा गया वह एक ईंसान था। इसी को कविता में उन्होंने इस तरह रखा :

हिंदू और सिख में  
 बंगाली और असमिया में / पिछड़े और अगड़े में  
 पर इनसे बड़ी फूट  
 जो मारा जा रहा और जो बचा हुआ  
 उन दोनों में है

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 282)

असमानता की इस गहरी चेतना को उन्होंने अपने समय और समाज में बुरी तरह फैला हुआ देखा था। जब तक हमारे लोग अपने खून में रचे बसे इस भेदभाव को नहीं पहचानते, एक सभ्य और लोकतांत्रिक समाज की संरचना संभव नहीं होगी। आज़ादी का सपना साकार नहीं होगा। इसी संकलन की एक कविता 'इंतज़ार' में असमानता की इसी चेतना को निम्नांकित पंक्तियों में व्यंजित किया है :

एक बड़े होटल के कमरे में बैठ कर  
 सभी खानसामों से ऐसे मुस्कराता है  
 जैसे वह शेषित के प्रति करुणाशील है  
 (वही, पृ. 285)

इस करुणाशीलता के पीछे छिपी असमानता की चेतना और अहंकार की भावना की पहचान रघुवीर सहाय की काव्यदृष्टि में शुरू से अंत तक बनी रही और इसीलिए वे शोषकवर्गों की पाखंडमयी सहानुभूति, करुणा, दया की धज्जियां उड़ाते रहे। अंत के दिनों के उक्त संकलन में भी 'इमरजेंसी' पर एक कविता है जिससे यह जानने में देर नहीं लगती कि किस तरह एक सच्चे 'डेमोक्रेट' की तरह वे जनवादी मूल्यों के सशक्त रचनाकार थे और मूल्यों को आभूषणों की तरह प्रदर्शित न करके हमारे सबके मन में बैठे शासकवर्गीय और आभिजात्यवादी विचारों से भी संघर्ष करते थे।

मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की भावना रखने वाले नये मानव की खोज उनका रचनात्मक लक्ष्य थी। शुरू के ही दिनों में अपने एक लेख में उन्होंने कहा था कि 'संश्लिष्ट रूप में नये मानव की खोज ही नयी कविता का धर्म है।' वे जीवन पर्यंत इसी नये मानव की खोज में लगे रहे। मूल्यों के स्तर पर बेहतर आदमी बनाने की उनकी कामना से ही उनकी रचनात्मकता को ऊर्जा मिलती थी। इसी अर्थ में वे एक बेहतर समाज का सपना अपनी कल्पनाशीलता में पाले हुए थे। उनका सपना जब जब आहत होता था, चाहे वह अधिनायकवादी सत्ता ने किया हो या सांप्रदायिक

ताकतों ने, उनका रचनाकार सक्रिय प्रतिरोध करता था। शोषित जन के प्रति सहानुभूति, करुणा, दया का आभिजात्यवादी पाखंड प्रदर्शित न करके वे उसे उसके खुद के संघर्षों के माध्यम से मुक्त होते देखना चाहते थे। वे बराबरी और सामाजिक न्याय को भीख के रूप में या किसी की दया के रूप में हासिल कराने के हामी नहीं थे। अपने अंतिम कविता संकलन में 'साइकिल रिक्शा' कविता में रिक्शा चालक और सवार के बीच की असमानता उन्हें खटकती है, लेकिन एक बिंदु पर जब वे उनमें समानता देखते हैं तो कह उठते हैं :

सिर्फ जब दुलाई पर दोनों झगड़ते हैं  
हैसियत उनकी बराबर हो जाती है।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 301)

वे शोषित जन की हैसियत को इस समाज में जैसी है वैसी नहीं देखना चाहते थे। जहां भी नाबराबरी को अमल में आते देखते थे, वे अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर भी बोलते थे। वे जन के दुश्मन को पहचानते थे। 'टेलिविज़न' कविता में वे जो कहते हैं, वह आज भी कितना सही उतर रहा है कहने की आवश्यकता नहीं :

वह चेहरा जो जिया या मरा ब्याकुल जिसके लिए हिया  
उसके लिए समाचारों के बाद समय ही नहीं दिया  
तबसे मैंने समझ लिया है आकाशवाणी में बन ठन  
बैठे हैं जो खबरों वाले वे सब हैं जन के दुश्मन

(वही, पृ. 178)

यह थी रघुवीर सहाय की पक्षधरता जिससे अनुशासित था उनका रचनाकर्म और इसी पक्षधरता के कारण वे समय के आर पार जाते हुए कवि थे। साहित्य और कला का इतिहास गवाह है कि जो कवि साधारण जन के, शोषित और दमित जन से प्रतिबद्ध रहे, वे ही कालातीत भी हुए।

### रघुवीर सहाय की कविता में नारी विमर्श

रघुवीर सहाय की कविता में नारी का एक खास तरह का स्थान है। वे नारी को भी समतावादी दृष्टिकोण से देखना पसंद करते थे। हिंदी के ज्यादातर रचनाकार नारी को 'अबला' समझ कर उसके प्रति 'दया' का भाव प्रदर्शित करते रहे हैं। रघुवीर

सहाय दया के प्रदर्शन को एक सामंती मूल्य मानते रहे क्योंकि उस प्रदर्शन में कहीं न कहीं दया के पात्र को छोटा, हीन और असहाय समझने और खुद को समर्थ, बड़ा और सामंत सरीखा शासक मानने की प्रवृत्ति जाने अनजाने काम कर रही होती है। रघुवीर सहाय की कविताओं और कहानियों के ज़्यादातर वाचक इसीलिए दया दिखाने के खिलाफ़ होते हैं। अपने एक लेख में उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा था :

हिंदी साहित्य में स्त्री के प्रति यह भावना बार बार व्यक्त हुई है कि वह उपेक्षिता है, इसीलिए दया का पात्र है। आधुनिक कहे जाने वाले साहित्य में पुरुष से उसके शरीर-संबंध को विशेष महत्व दिया गया है पर वहां भी उसके प्रति दया का भाव लेखक के मन से गया नहीं है—मानो आधुनिक जीवन के नर-नारी-समता के विचार ने रचनाकार को छुआ ही न हो और वह पिछले ज़माने के सामंती मन से ही स्त्री को देख रहा हो

(रघुवीर सहाय रचनावली-3, पृ. 47)

रघुवीर सहाय इस मर्म को बहुत पहले समझ गये थे कि दया का भाव बराबरी के मूल्य पर चोट करता है, इसलिए उनकी एक कविता का वाचक अपनी प्रेमिका से भी दया के भाव की अपेक्षा नहीं करता :

माधवी,  
या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हों,  
तुम एक ही दुख दे सकी थीं  
फिर भला ये और सब किसने दिये हैं?  
जो मुझे हैं और दुख, वे तुम्हें भी तो हैं  
यही क्या नहीं काफ़ी तर्क है कि मुझे दया का पात्र मत समझो

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 63)

रघुवीर सहाय बराबरी के अपने इस नज़रिये से उच्चवर्ग की नारियों के प्रति अक्सर निर्मम हो जाते हैं, उनकी कई कविताओं के वाचक ऐसी नारियों का मज़ाक़ उड़ाते हैं। उनकी एक बहुप्रसिद्ध कविता, 'प्रभु की दया' में जिन औरतों का बिंब आया है, वह ऐसी ही नारियों का है :

बिल्ली रास्ता काट जाया करती है  
प्यारी प्यारी औरतें हरदम बक बक करती रहती हैं  
चांदनी रात को मैदान में खुले मवेशी

आ कर चरते रहते हैं  
और प्रभु यह तुम्हारी दया नहीं तो और क्या है  
कि इनमें आपस में कोई संबंध नहीं ।

(वही, पृ. 69-70)

जो नारियां श्रम करती हैं, उनके प्रति समानता का भाव ही परिलक्षित होता है, एक कविता में जहां वाचक और उसकी साथी दोनों समान रूप से थके हैं, नारी के प्रति एक जनवादी दृष्टिकोण साफ़ झलकता है :

बंधु हम दोनों थके हैं  
और थकते ही रहें तो साथ चलते भी रहेंगे  
वह नहीं है साथ जिसमें तुम थको तो हम तुम्हें लादें फिरें  
और हम थकें तो दम तुम्हारा फूल जाय— हाय ।

(वही, पृ. 77)

आभिजात्यवादी नारी और श्रमशीला नारी के बीच रघुवीर सहाय अंतर करते थे, लेकिन पूरी नारी जाति की त्रासदी भी समझते थे। यह सही है कि उच्च घरानों की 'प्यारी प्यारी' नारियां सुख, सुविधा और आराम की जिंदगी बिताती लगती हैं लेकिन पुरुष द्वारा उनका भी शोषण होता है। अपनी एक कविता में रघुवीर सहाय का वाचक कहता है :

नारी बिचारी है  
पुरुष की मारी है  
तन से क्षुधित है  
मन से मुदित है  
लपककर झपककर  
अंत में चित है

(वही, पृ. 92)

औरत के प्रति इस तरह की विनोदप्रियता का लहजा रघुवीर सहाय की बाद की कविताओं में नहीं मिलता, बल्कि उसमें नारी जाति की त्रासदी की एक अंतर्धारा बहती दिखती है। *लोग भूल गये है* कविता संग्रह में ऐसी कई कविताएं हैं जो उनके बदले हुए दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। एक कविता है, 'औरत का सीना' जिसमें वाचक कामना करता है कि वह जवान औरत जिसे उसने बिसातखाने में कुछ खरीदते

हुए देखा है 'पुरुष के मुकाबले' कुछ और ताकतवर हो जाती। उसे देख कर जो प्रतिक्रिया वाचक के मन में हुई उसे कवि ने यों शब्दबद्ध किया :

तब मैंने देखा कि उसको इतने करीब  
पाकर यह क्या हुआ इतना अजीब दर्द  
वह नफरत नहीं था वासना नहीं था

वह जो था अंत में आदर था  
वह था उसका सीना आंखों के सामने  
उसकी अकेली असहाय  
और गैरबराबर औरत  
का वह सर्वस्व था और मेरे बहुत पास

(वही, पृ. 224)

इसी संकलन की एक कविता में वाचक कहता है कि 'औरतों के चेहरे समाज के दर्पण हैं / पुरुषों जैसे / किंतु जो दर्द दिखलाते हैं उनमें मिठास है / पुरुष गिड़गिड़ाते हैं औरतें सिर्फ चुपचाप थाम लेती हैं बेबसी' (वही, पृ. 234) इस तरह रघुवीर सहाय की कविता में औरतें खिलंदड़ेपन का लक्ष्य नहीं रह गयीं जैसी वे शुरू की कविताओं में थीं। *कुछ पते कुछ चिट्ठियां* संग्रह की एक कविता, 'औरतें' का वाचक औरतों को एक यथार्थवादी नज़रिये से देखता है :

हाथ बालों पर नहीं जिनके कभी फेरा गया  
बैठकर दो चार के संग  
तजुर्बे अपने सुनाने का नहीं मौका मिला,  
औरतें वे सूखकर रह गयीं  
उनकी बच्चियों ने जवां हो कर दादियों की  
काठियां पायीं।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 281)

मरणोपरांत प्रकाशित, *एक समय था* संग्रह में औरतों पर ज़्यादा कविताएं नहीं हैं। जो हैं उनमें औरत या तो जुल्म का शिकार है या फिर शिकार बनने की प्रक्रिया में है। 'औरत की पीठ' उनके इस नज़रिये का साक्ष्य है :

औरत की पीठ उसका इतिहास है  
उस पर जुल्म का असर वहां देखो  
अपने सीने का अगर उसने छिपा रखा हो ।

(वही, पृ. 360)

आखिरी संग्रह की कविताओं में नारी पर जो भी कविताएं हैं उनमें उसका शोषित रूप ही ज्यादा है, उन कविताओं में 'मां' है, 'मेरी स्त्री', 'संगिनी' है, 'उसका मन' है। रघुवीर सहाय नारी की अंतश्चेतना में भी अपने समतावादी नज़रिये से और यथार्थ की ज़मीन पर खड़े हो कर प्रवेश करते हैं, यही उनकी निजी विशेषता है, 'जब वह किसी बात को स्वीकार करती है / तो 'हां' नहीं कहती / सिर्फ खुशी खुशी अपना काम करने लगती है / उसी से हम जानते हैं कि / उसने स्वीकार किया। (वही, पृ. 369) नारी की चेतना में आने वाले 'परिवर्तन' पर भी रघुवीर सहाय की निगाह थी और 'नयी पीढ़ी' की नयी चेतना का भी अहसास उन्हें था। अंतिम दौर की कविताएं उनकी इस जागरूकता का प्रमाण हैं। राजेश जोशी ने ठीक ही कहा है कि 'स्त्री को ले कर उनका नज़रिया बदला है। उस चेहरे को देखने की कोशिश भी है जो 'उसका विद्रोह है'। पुरुष समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी अपनी मानसिकता और कमी का एक गहन विश्लेषण उनकी कविता में है। पर उसमें स्त्री की पीड़ा अधिक है, उसका जुझारूपन कम'। (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर / असद जैदी, पृ. 81)

### रघुवीर सहाय की कविता: कुछ वैचारिक सीमाएं

रघुवीर सहाय विचारधारात्मक स्तर पर आधुनिक सभ्य समाज के लिए जनवादी मूल्यों जैसे समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। इनका जहां भी अभाव था, जिस स्तर पर भी ये मूल्य खंडित होते दिखायी देते थे उनकी कविता उसी समय उस यथार्थ को अभिव्यंजित करती थी। इसलिए रघुवीर सहाय की कविता में समाज की कूर विसंगतियों का लेखा जोखा है, उन विसंगतियों की आलोचना है, उनके प्रति क्षोभ है। इस सबके बावजूद वे इन विसंगतियों और अभावों को दूर करने के लिए यानी समाज को विकास के अगले चरण में ले जाने के लिए संगठित राजनीति की अपरिहार्य ज़रूरत से परहेज़ करते थे। हालांकि उन्होंने *दूसरा सप्तक* के अपने वक्तव्य में मार्क्सवाद को आक्सीजन की तरह जीवन की ज़रूरत के रूप में स्वीकार किया था और अपने दृष्टिकोण के बारे में कहा था कि 'यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इसलिए सही और स्वस्थ होगा', (रघुवीर सहाय *रचनावली-1*, पृ. 38), मगर बाद में वे सभी तरह की संगठित राजनीति को एक ही मान कर समष्टि की जगह व्यष्टि पर जोर देने लगे, और साथ ही संगठित राजनीति की ज़रूरत को भी रेखांकित करते रहे। उन्होंने मार्क्सवाद और साम्यवाद से अपने



दृष्टिकोण को जोड़ते हुए भी इस समाज की वर्गीय बुनावट और उसमें हर स्तर पर वर्गीय हलचल या संघर्ष को देखते हुए अपना पक्ष तय करने के कठिन मार्ग का अनुसरण नहीं किया। इस समाज में पूंजीपति और भूस्वामी वर्ग जब संगठित राजनीति करते हैं यानी अपने राजनीतिक दल बनाते हैं, शोषित जनता के सामने अपने ही दलों को विकल्प के रूप में लाने की और इस तरह सत्ता अपने ही पक्ष में रखने की कोशिश करते हैं, तो सर्वहारा वर्ग भी संगठित राजनीति करता है और शोषकवर्गों से संघर्ष करके समाज को विकास की अगली मंज़िल में ले जाने की लड़ाई लड़ता है। इसलिए सर्वहारावर्ग की पार्टी यानी मार्क्सवाद की वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित पार्टी का संसार भर के सारे पूंजीवादी समाजों में होना इसी सत्य का सबूत है। इसलिए सारे धान बाईस पसेरी तौलने वाली अभेद दृष्टि उस मिथ्याचेतना से निर्मित होती है जो कि मध्यवर्ग में खूब पायी जाती है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अज्ञानवश शोषित और शोषक की राजनीति में अंतर नहीं करते, उन्होंने अपने एक साक्षात्कार में कहा कि 'यह बात ज़रूरी है कि संगठित राजनीति और रचना में तनाव का रिश्ता होना चाहिए और सत्ता और रचना में भी तनाव का रिश्ता होना चाहिए'। (रघुवीर सहाय रचनावली-3, पृ. 403) उसी साक्षात्कार में यह भी कहा कि 'संगठित राजनीति अत्यंत आवश्यक है, लेकिन उसके खिलाफ रचना भी आवश्यक है' (वही, पृ.404)। यही रघुवीर सहाय की विचारधारात्मक सीमा है जो संगठित राजनीति के वर्गीय सारतत्व को नहीं देख पाती। मज़दूरवर्ग की संगठित राजनीति के खिलाफ भी रचना और पूंजीवादी संगठित राजनीति के खिलाफ भी रचना, यह पक्ष न लेने का फलसफ़ा अंततः पूंजीवादी समाजों में शोषक शासक वर्गों के हित में ही जाता है। मुक्तिबोध इसीलिए भारतीय मध्यवर्ग से कह रहे थे कि 'तय करो किस ओर हो तुम', क्योंकि अपने पक्ष के प्रति सचेत होने से ही यानी वर्गचेतस होने से ही एक नागरिक और कवि के रूप में कोई रचनाकार अपना सकारात्मक योगदान कर सकता है, अन्यथा वह जाने अनजाने जन के दुश्मन वर्गों को ही मज़बूत बना रहा होता है। रघुवीर सहाय की विचारधारात्मक सीमा यही है कि वे जन के दुश्मनवर्गों के खिलाफ़ खड़े हो कर भी खुद को अकेला ही रखना चाहते थे, उसी 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' की रक्षा की मिथ्याचेतना को पाले हुए जो वर्गसमाजों में एक भ्रांति के अलावा और कुछ नहीं है। मुक्तिबोध इस सत्य को समझते थे, इसीलिए उन्होंने कहा था, कि 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।' फिर भी रघुवीर सहाय अपनी विचारधारात्मक सीमाओं के बावजूद जन पक्ष के लोकतांत्रिक सरोकारों के कवि थे, इसीलिए उनका हिंदी कविता में और हमारे सांस्कृतिक रचनाकर्म में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा ।

## रघुवीर सहाय की काव्यभाषा (छंद, लय, गद्य इत्यादि के संदर्भ सहित)

‘अज्ञेय’ ने रघुवीर सहाय की रचनाओं के संकलन, *सीढ़ियों पर धूप में*, की भूमिका में लिखा था कि ‘निस्संदेह रघुवीर सहाय शिल्पी हैं, कुशल शिल्पी हैं; ‘कच्चे माल’ के कच्चेपन को ही साहित्यिक मूल्य बनाना उनका इष्ट नहीं है पर वह वास्तव में ‘माल’ हो यह वह बराबर पहचानते रहना चाहते हैं’। उन्होंने रघुवीर सहाय के गद्य की भाषा की प्रशंसा करने के बाद काव्यभाषा के बारे में लिखा, ‘भाषा की यह सहज प्रवहमान प्रसादमयता उनकी कविता में भी ज्यों की त्यों है। कविता भाषा का विशिष्ट प्रयोग तो है ही और भाषा-शक्ति का विशिष्ट प्रयोग रघुवीर सहाय भी अनिवार्यतया करते ही हैं (*सीढ़ियों पर धूप में*, पृ. 8-9)। उन्होंने अंत में यह बेहिचक घोषित किया कि ‘रघुवीर सहाय की भाषा, आधुनिक हिंदी के काव्य की दृष्टि से सफल और प्रभविष्णु उपयोग का अच्छा उदाहरण है।’ (वही, पृ. 10) अज्ञेय कविता को भाषा का एक प्रयोग, एक अन्वेषण मानते थे। वे काव्यवस्तु के बजाय शिल्प या भाषा को ज़्यादा महत्व देते थे। इस अर्थ में वे रूपवादी थे। मगर रघुवीर सहाय अज्ञेय की मान्यताओं से सहमत नहीं थे। उन्होंने लिखा, ‘सर्वाधिक प्रचलित भ्रांतियों में से एक नयी कविता के शिल्प को ले कर रही है और इससे अधिक प्रचलित यदि कोई भ्रांति रही है तो वह कलाकार के अन्वेषण के संबंध में है।’ (वही, पृ. 240) वे प्रयोग को कला की अपनी सौंदर्य-परंपरा को आगे बढ़ाने और उसके लिए हर स्तर का अन्वेषण करने को कविता के लिए ज़रूरी मानते थे। शिल्प तो आखिरी बिंदु होता है जिसमें रचनाकार प्रयोग करता रह सकता है। इसीलिए वे कहते हैं कि ‘शिल्प और अन्य प्रासंगिक उपकरण अपने में विश्लेषण के विषय हो सकते हैं, ब्योरेबार अध्ययन करने वालों के लिए; पर वहां से परीक्षण आरंभ नहीं किया जाना चाहिए।’ (वही, पृ. 244) ज़ाहिर है कि रघुवीर सहाय उस काव्यतत्व का अन्वेषण करने पर ज़्यादा ज़ोर देते थे जो कला की सौंदर्य परंपरा को आगे बढ़ाता है। काव्यकला की भी अपनी एक सापेक्षतया स्वायत्त परंपरा है जो कवियों के द्वारा अन्वेषण और प्रयोग से, नयी भाषा और नये शिल्प से आगे बढ़ती है। काव्य भाषा की अलग से पहचान नयी लय, नये छंद गठन, नये देशज शब्दों के प्रयोग और अंततः कथ्य को कहने की नयी भंगिमा

के माध्यम से बनती है। हर कवि यह कोशिश करता है कि उसका अपना अंदाज़-ए-बयां हो। आइए, देखें, रघुवीर सहाय की कविता किस तरह इस काव्य सौंदर्य की परंपरा को एक नयी काव्यभाषा और लय के नये नये प्रयोगों के माध्यम से आगे ले जाती है

### रघुवीर सहाय की काव्यभाषा

रघुवीर सहाय की प्रारंभिक दौर की कविता में भाषा के साथ एक खिलवाड़ या खिलंदड़ापन मिलता है जो संवदेना के विकास के साथ बाद में काव्यगत विडंबना के लिए काम आता है। *सीढ़ियों पर धूप में* और *आत्महत्या के विरुद्ध* की कविताओं में भाषा का यह क्रीड़ाभाव खूब मिलता है। इस क्रीड़ाभाव से कविता में नाटकीयता का गुण आता है। शुरू के दिनों की उनकी एक मशहूर कविता, 'दुनिया' की भाषा में यही क्रीड़ाभाव देखा जा सकता है :

लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या हैं  
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं  
लोग सिर्फ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम लोग  
लोग ही लोग हैं चारों तरफ लोग, लोग, लोग  
मुंह बाये हुए लोग और आंख चुंधियाये हुए लोग  
कुड़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग  
खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग  
दुनिया एक बजबजायी हुई चीज़ हो गयी है ।

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 94)

इसी तरह के भाषिक खिलंदड़ेपन की एक और कविता भी मध्यवर्गीय लोगों के बारे में है, 'सभी लुजलुजे हैं' जिसमें वाचक ऐसे चुने हुए शब्द इस्तेमाल करता है जो कविता में शायद ही कभी प्रयुक्त हुए हों, 'खौंखियाते हैं, किंकियाते हैं, घुन्नाते हैं / चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं / मिनमिनाते हैं, कुड़कुड़ाते हैं / सो जाते हैं, बैठ रहते हैं, बुत्ता दे जाते हैं' (वही, पृ. 92) यही क्रीड़ाभाव *आत्महत्या के विरुद्ध* की कविताओं तक पहुंचते पहुंचते एक ऐसी आयरनी में तब्दील हो गया जिससे उनकी कविता, महेश आलोक, के शब्दों में, 'एक मज़बूत शोषणतंत्र या व्यवस्था के खिलाफ, अमानवीयता के खिलाफ, हत्या-षड्यंत्र और मनुष्यता के पतन के खिलाफ, राजनैतिक अवसरवादिता के खिलाफ आम आदमी के गुस्से को पूरे संघर्षशील तेवर और उसकी कमज़ोरियों, लाचारियों और कमियों के साथ खड़ा करने और पूरे मानवीय जीवट के

साथ मुठभेड़ की कविता' हो जाती है।(इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 195)  
उनके इस विकास को उन्हीं की एक कविता से परखा जा सकता है :

यही मेरे लोग हैं  
यही मेरा देश है  
इसी में रहता हूँ  
इन्हीं से कहता हूँ  
अपने आप और बेकार

लोग लोग लोग चारों तरफ हैं मार तमाम लोग  
खुश और असहाय

उनके बीच में सहता हूँ  
उनका दुख  
अपने आप और बेकार

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 119)

इन पंक्तियों तक की काव्ययात्रा कवि की संवेदना के विकास की यात्रा है। इसीलिए भाषा का खेल अब विडंबना और गंभीर अर्थवत्ता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। संवेदना के इस विकास को उनकी इन पंक्तियों में भी देखा जा सकता है :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा  
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर  
एक कायर टूटेगा टूट  
मेरे मन टूट एक बार सही तरह  
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ अब मत रूठ  
मत डूब सिर्फ टूट

(वही, पृ. 144)

भाषा का खिलवाड़ यहां काफ़ी गंभीर आयरनी का सृजन कर रहा है, वाचक में खुद अपने भीतर व्यक्तित्वांतरण की मांग उठ रही है, अपने भीतर के मकड़जाल (तिलिस्म) से उबरने की आकांक्षा उदित हो रही है। काव्यभाषा के विकास में एक मंज़िल ऐसी भी आयी जिसमें कवि ने बहुत सारे नाटकीय पात्रों की रचना की। शुरू के दौर में मज़ाकिया लहजे में कुछ पात्रों का सृजन रघुवीर सहाय ने किया था, जैसे 'शांति दो' कविता में 'चाहे वह कांति की बहन ही क्यों न हो'। मगर बाद में 'नेकराम

नेहरू' और 'वाजपेयी' से ले कर 'हरचरना', 'मुसद्दीलाल', 'चंद्रकांत', 'दयाशंकर' आदि अनेक तरह के पात्र अपनी पूरी नाटकीय और वर्गीय विशेषताएं ले कर आये और फिर 'रामदास' जैसा प्रातिनिधिक पात्र उनकी कविता में आया। ये पात्र किसी नाटकीय मुद्रा के विज्ञापन के लिए नहीं, जीते जागते यथार्थ को प्रभावी और विवसनीय तरीके से पेश करने के लिए उनकी कविता में आये।

रघुवीर सहाय की काव्ययात्रा के शुरू के दिनों की एक कविता, 'मेरा एक जीवन है' में वाचक जहां अपने निजी जीवन के बारे में कहता है कि 'उसमें मेरे प्रिय हैं, मेरे हितैषी हैं' वहीं वह एक और जीवन की बात करता है :  
पर मेरा एक और जीवन है

जिसमें मैं अकेला हूँ  
जिस नगर के गलियारों फुटपाथों मैदानों में घूमा हूँ  
हंसा खेला हूँ  
उसके अनेक हैं नागर, सेठ, म्युनिसिपल, कमिश्नर, नेता  
और सैलानी, शतरंजबाज़ और आवारे  
पर मैं इस हाहातूती नगरी में अकेला हूँ।  
(वही, पृ. 95)

एक स्तर पर ऐसा लगता है कि यह कविता आधुनिकतावादियों की काव्यभाषा का अनुकरण करती हुई मनुष्य के आत्मनिर्वासन की काव्यवस्तु को दोहरा रही है। लेकिन गौर से देखें तो काव्यभाषा में नये प्रयोग के रूप में जिस 'हाहातूती नगरी' को चित्रित किया गया है, उसमें वे भी हैं जो अपने हैं और वे भी जो पराये हैं। यह अपने और पराये की पहचान आधुनिकतावादियों के यहां खो गयी थी, क्योंकि उनके यहां तो 'जो मेरा है वही ममेतर है' (अज्ञेय) रघुवीर सहाय 'हाहातूती नगरी' जैसे भाषिक प्रयोग से पूरी पूंजीवादी सभ्यता की मारधाड़वाली, स्पर्धावाली चीख पुकार व्यक्त कर देते हैं जिसमें सेठ, नेता, कमिश्नर भी हैं और शोषित भी हैं, 'वे सब सुहृद हैं, सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं'। यह भाषा एक लय पैदा करती है जिसमें परंपरागत वृत्यानुप्रास स्वतः ही आ गया है। मगर कथ्य के स्तर पर वह अपनों की पहचान करने कराने के लिए यह आवृत्ति करता है। इन अपनों ('सुहृद') की बदौलत ही कविता का वाचक यह विश्वास रखता है कि

सारे संसार में फैल जायेगा एक दिन मेरा संसार  
सभी मुझे करेंगे --दो चार को छोड़-- कभी न कभी प्यार

मेरे सृजन, कर्म-कर्तव्य, मेरे आश्वासन, मेरी स्थापनाएं  
 और मेरे उपार्जन, दान-व्यय, मेरे उधार  
 एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे -- ये मेरे महत्व  
 डूब जायेगा तंत्रीनाद कवित्त-रस में, राग में, रंग में मेरा यह ममत्व  
 (वही, पृ. 95-96)

कविता के इस अंश में दार्शनिक स्तर पर जाती हुई काव्यभाषा को फिर से वाचक मोड़ कर 'तंत्रीनाद कवित्त रस' के स्तर पर ले आता है जिससे कि अपने कथन को 'लिरिकल' (आत्मबद्धता) से उबार कर 'ड्रैमेटिक' (सार्वजनीन) स्तर पर ले जा सके। तभी काव्यभाषा में उसे कहना पड़ता है कि 'डूब जायेगा मेरा यह ममत्व'। आत्म के 'सारे संसार में फैल' जाने और 'दो चार को छोड़' सभी का यानी विस्तृत जनसमूह का प्यार पाने की उद्दाम लालसा और विश्वास पक्षधरता के बगैर संभव नहीं, इसीलिए काव्यभाषा में यह सावधानी बरती गयी है और 'हाहातूती नगरी' के नागरिकों के भी भेद दिये गये हैं और उन सब के बीच भी दोस्त और दुश्मन का संकेत कर दिया गया है, 'दो चार' यानी कम तादाद में वे शोषक ही हैं जिनसे वाचक को प्यार नहीं मिलेगा।

काव्यभाषा का ऐसा सावधान प्रयोग रघुवीर सहाय की कविता में प्रारंभिक दौर से ही मिलता है। रघुवीर सहाय भाषा की सीमाएं भी जानते थे। शब्द यथार्थ की इमेज तो होता है लेकिन फिर भी उसमें असलियत को पूरी तरह चित्रित करने की क्षमता नहीं होती। अपनी कई कविताओं में उन्होंने भाषा की इस कमजोरी के बारे में इशारा किया था। प्रारंभिक दिनों की ही एक कविता, 'इतने शब्द कहां हैं' में उन्होंने लिखा:

इतने अथवा ऐसे शब्द कहां हैं जिनसे  
 मैं उन आंखों कानों नाक दांत मुंह को  
 पाठकवर,

आज आप के सन्मुख रख दूं  
 जैसे मैंने देखा था उनको कल परसों

वह छवि मुझ में पुनरुज्जीवित कभी नहीं होती है  
 वह मुझ में है। है। वह यह है  
 मैं भी यह हूं  
 मेरे मुख पर अक्सर जो आभा होती है।  
 (वही, पृ. 87)

उन्होंने काव्यभाषा के बारे में लगभग अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ की तरह अपने 'वक्तव्य' में कहा था कि 'भाषा को साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है, मगर उसमें भी कहीं कहीं भाषा की फिजूलखर्ची करनी पड़ी है।' (वही-38) भाषा के बारे में ईमानदारी का यह स्वीकार उनकी रचनाप्रक्रिया को समझने में काफी मददगार साबित होता है। उक्त कविता में ही यथार्थ की संश्लिष्टता और शब्द की सीमा को व्यक्त करने के लिए भाषा की काफी फिजूलखर्ची करनी पड़ी है। कविता के पहले खंड में एकदम बोलचाल की भाषा है, 'नाक, दांत, मुंह' जैसे शब्द हैं, मगर वही 'मुंह' अंतिम पंक्ति में 'मुख' हो जाता है क्योंकि उसे 'आभा' की संगति में रखना ज़रूरी था, बल्कि अंतिम खंड की पूरी संस्कृतनिष्ठ और दार्शनिक शब्दावली के अनुकूल रखना था। यथार्थ और उसकी छवि, इमेज, के बीच शब्द जैसे माध्यम की अपर्याप्तता का कथ्य इस दुहरे भाषा-प्रयोग के लिए अनिवार्य बन गया। इस अपर्याप्तता को ही उन्होंने, *हंसो हंसो जल्दी हंसो* संग्रह, की एक कविता, 'दर्द' में भी रखा, मगर वह कविता, भाषा की बहुलार्थक प्रकृति के कारण, खुद कई अर्थों वाली हो गयी क्योंकि उसमें एक विडंबना भी चित्रित है :

देखो शाम घर जाते बाप के कंधे पर  
बच्चे की ऊब देखो  
उसको तुम्हारी अंग्रेजी कह नहीं सकती  
और मेरी हिंदी  
कह नहीं पायेगी  
अगले साल

अरुण कमल ने अपने लेख में यह सही कहा है, कि 'नागार्जुन के बाद रघुवीर सहाय में हमें भाषा की अनेक मुद्राएं मिलती हैं। बोलचाल की नाटकीयता, वक्रता, लोच । कविता की भाषा को बोली के इतना करीब लाने में रघुवीर सहाय का सानी नहीं।' (*रघुवीर सहाय*, संपादक: विष्णु नागर, असद जैदी, पृ. 102-3) अरुण कमल ने रघुवीर सहाय की इस विशेषता को रेखांकित करने के लिए उनकी एक कविता का जो अंश उद्धृत किया है वह सचमुच देखने लायक है :

कोने में खटिया पर जा करके पहुड़ रही  
वह पहुड़ी रही साल भर तक फिर गुजर गयी  
औरतें उठीं घर धोया मर्द गये बाहर  
अर्थी ले कर (वही, पृ. 102)

काव्यभाषा की एक अन्य कमज़ोरी, बहुलार्थकता (एम्बीगुइटी) की ओर भी उन्होंने कई जगह इशारा किया था। भाषा के 'सिग्नीफ़ाइर' और 'सिग्नीफ़ाइड' के बीच के द्वंद को उन्होंने पश्चिम के भाषाचिंतकों, खासकर संरचनावादियों, सौस्यूर या रोलां बार्थ की रचनाओं से नहीं, अपने खुद के चिंतन से समझा था। वे परंपरागत काव्यभाषा के अलंकृत, बहुलार्थक रूप से अलग ऐसी काव्यभाषा रचने के प्रयास में थे जो ठीक ठीक वही कह सके जो उनका प्रयोजन था। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने रघुवीर सहाय की भाषा संबंधी चिंता के बारे में सही ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की चिंता भाषा को लेकर बहुत दिखलायी पड़ती है। उन्हें एक तो चिंता इस बात की है कि उनकी काव्यभाषा किताबीपन या रीतिवादिता से मुक्त रहे, दूसरे वह छद्म हिंदी न हो, वह भाषा के दोमुँहेपन से बचने का आग्रह करते हैं।' (*प्रतिपक्ष*, जनवरी 1991, पृ. 25)

रघुवीर सहाय ने सही सही काव्यभाषा के लिए किये गये अपने संघर्ष के बारे में कहा कि 'जो मैं जानता हूँ कि मुझे कुछ कहना है, वह कहने की कोशिश करते ही ऐसा लगता है कि मैं कुछ और कह रहा हूँ, यानी भाषा मेरे साथ मनमानी करना चाहती है और मैं उसको इससे रोकना चाहता हूँ, और यह संघर्ष चलता रहता है।' (*लिखने का कारण*, पृ. 100) अपनी एक कविता की बहुचर्चित पंक्ति में भी उन्होंने यह कहा है कि, 'भाषा की बधिया हमेशा वक्त के सामने बैठ जाती है।' यह संघर्ष वह सब कह डालने का था जो लोकतांत्रिक मूल्यव्यवस्था के संकल्प के बिल्कुल विपरीत समाज में घटित होता दिखायी दे रहा था। सत्ताधारी वर्गों की असलियत उजागर करने के लिए जिस भाषा की दरकार थी, उसे पाने के लिए संघर्ष उनके कविकर्म का एक अनिवार्य दायित्व था। वे जानते थे, 'वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं / जहाँ सुना नहीं उनका ग़लत अर्थ लिया और मुझे मारा।' इसलिए 'दो अर्थ का भय' कविता में वे लिखते हैं :

इसलिए कहूँगा मैं  
मगर मुझे पाने दो  
पहले ऐसी बोली  
जिसके दो अर्थ न हों

(*रघुवीर सहाय रचनावली-1*, पृ. 157)

रघुवीर सहाय की भाषा संबंधी अन्वेषणवृत्ति के बारे में महेश आलोक ने ठीक ही कहा है कि 'नयी और जीवित भाषा की तलाश की लंबी प्रक्रिया से गुज़रते हुए रघुवीर सहाय निरंतर शब्दों की रचनात्मक गरमाहट, खरोंच और उसकी आंच को उत्सव-



धर्मी होने से बचाते हैं और लगभग कविता के लिए अनुपयुक्त हो गये शब्दों की अर्थ सघनता को बहुत हल्के से खोलते हुए ख़ास किस्म के गद्यात्मक तेवर को रिटैरिकल मुहावरे में तब्दील कर देते हैं।' (इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 200) इस नयी और जीवित भाषा की तलाश रघुवीर सहाय किसी नये शिल्प की खोज या 'कला के लिए कला' के नये उपकरणों का अनुसंधान करने के उद्देश्य से नहीं कर रहे थे, बल्कि वे एक सामाजिक संकट और आने वाले दिनों में भारतीय समाज के विकास के रास्ते में आने वाले ख़तरों से साधारण जन को आगाह करने के लिए अलग तरीके की भाषा खोज रहे थे जो कारगर हो सके क्योंकि हर तरह की भाषा को उस पूंजीवादी राजनीति ने अर्थहीन कर दिया है जिसने साधारण जन को बदहाल कर रखा है, उसे मार दिया है। वे उक्त कविता में ही कहते हैं :

मेरा सब क्रोध सब कारुण्य सब क्रंदन  
भाषा में शब्द नहीं दे सकता  
क्योंकि जो सचमुच मनुष्य मरा  
उसके पास भाषा न थी

मुझे मालूम था मगर इस तरह नहीं कि जो  
ख़तरे मैंने देखे थे वे जब सच होंगे  
तो किस तरह उनकी चेतावनी देने की भाषा  
बेकार हो चुकी होगी  
एक नयी भाषा दरकार होगी

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 156)

रघुवीर सहाय ने, कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ की भूमिका में भी यही बात कही थी, 'भाषा के अनेक प्रकारों पर व्यावसायिक और राजनैतिक कब्जे ने भाषा की रचनात्मकता को अनेक प्रकार से विकृत और कुंठित कर दिया है, नयी प्रतिभा को सामाजिक चेतना के विषय में बलपूर्वक अशिक्षित करके मनुष्यों के बीच साझेदारी के संबंध तोड़े हैं और उनकी जगह बनावटी रागात्मकता के नये समझौते आरोपित किये हैं, जो उसके किसी पक्ष को कोई आत्मिक बल नहीं देते। रचनात्मकता के विरुद्ध इतना बड़ा अभियान आजादी के बाद दासता की पहली बार एकत्र शक्तियों ने चलाया है।' (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 262)

मनमोहन ने रघुवीर सहाय की भाषा के बारे में सही ही कहा था कि 'यहां यह याद दिलाना शायद उपयोगी होगा कि भाषा की 'प्रतीकात्मक जड़ता' को लगभग निर्णायक रूप से ध्वस्त करने का उनका उपक्रम (शायद जिसे हर महत्वपूर्ण कवि

अपने ढंग से करता ही है) किसी नयी भाषिक तरकीब की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। वह कवि की 'प्रयोगशीलता' या कोई नया शिल्पगत पूर्वग्रह नहीं था। यह उस फासले को कम करने (या शायद स्पष्ट करने) की कोशिश थी जो रचनाकार के संज्ञान और यथार्थ की गतिविधि के बीच सहज ही बन जाता है और जिसमें तमाम तरह के धोखे और स्वांग डेरे डाले रहते हैं।' (रघुवीर सहाय, संपा. विष्णु नागर व असद जैदी, पृ. 90)।

रघुवीर सहाय की काव्य यात्रा में भाषा के स्तर पर, बोध या संज्ञान के विकास के ही अनुरूप, एक परिवर्तन भी हुआ था। शुरू के दिनों में जहां भाषा के साथ काफ़ी खिलवाड़ करती हुई रचनाएं होती थीं, वहीं उनके राजनीतिक और सामाजिक स्तर की जागरूकता के विकास के साथ कविताओं में भी वह खिलवाड़ या कौतुक पैदा करने की प्रवृत्ति कम होती गयी और वैचारिक व संवेदनात्मक गहराई ज़्यादा आती गयी। विजयकुमार ने उनके इस विकास के बारे में ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की भाषा के बारे में अब तक एक आम धारणा यह थी कि उसकी शक्ति उसके विडंबना बोध में है। इस विडंबना बोध को मूर्त करने के लिए वे अटपटी, चुहलभरी नाटकीय भाषा का प्रयोग करते हैं। जो लोग इन्हीं चीज़ों को कवि की केंद्रीय मुद्रा मानते आये हों, उन्हें रघुवीर सहाय की परवर्ती कविताएं पढ़ कर धक्का लगेगा। (वही, पृ. 116) भाषा के प्रयोग में इस तरह का विकास उनके वैचारिक विकास का ही एक हिस्सा था। डा. नित्यानंद तिवारी ने उनकी कविता में भाषा की भूमिका के बारे में लिखा है कि 'उनकी कविता में भाषा और इतिहास की बड़ी भूमिका है, जिसे पाठक पग पग पर अनुभव करता है। लेकिन विश्लेषण और व्याख्या के स्तर पर भाषावाद और इतिहासवाद के पैमाने अपर्याप्त साबित होते हैं। उनकी कविता का विश्लेषण बहुत कठिन है।' (प्रतिपक्ष, जनवरी, 1991, पृ. 23)

### रघुवीर सहाय की कविता में छंद

रघुवीर सहाय ने अपनी कविता यात्रा उस समय शुरू की थी जब हिंदी कविता छंदमुक्त हो चुकी थी। निराला ने छंद से कविता की मुक्ति को एक वैचारिक आयाम पहले ही दे रखा था। अज्ञेय आदि प्रयोगवादी कवियों ने भी काफ़ी कुछ छंद के आग्रहों से मुक्ति दिला दी थी। फिर भी रघुवीर सहाय की काफ़ी कविताओं में छंद की उपस्थिति है। वे अपने जीवन के और काव्य यात्रा के महत्वपूर्ण पड़ाव पर पहुंच कर भी यह मानते रहे कि कविता को श्रव्य भी होना चाहिए और श्रव्य होने के लिए छंद मददगार साबित होता ही है। इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में छंद के भी अनेक प्रयोग किये। कई बार तो, कवि के अनुसार, छंद स्वतः कविता के शिल्प

का हिस्सा बनता गया जैसा कि 'रामदास' कविता के साथ हुआ। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने बताया कि 'कुछ कविताओं के साथ छंद आया और अपने साथ कविता का काफी कुछ अंश लिये हुए आया। जब कविता में छंद की ज़मीन बनने लगी तो मालूम हुआ कि इसमें छंद तो है ही और रहेगा भी। इसके अंदर जो भावनात्मक और वैचारिक आवेग है वह भी छंद के अंदर बनता हुआ चला आ रहा है। यह कुछ कविताओं के साथ हुआ। 'रामदास' की प्रक्रिया शुरू तो ऐसे ही हुई है।' (रघुवीर सहाय, पृ. 186) शुरू के दिनों में जब रघुवीर सहाय अपनी कविता में भाषा साथ खिलवाड़ किया करते थे जिसे, *सीढ़ियों पर धूप में* की काफी कविताओं में देखा जा सकता है, उस समय छंद के सायास प्रयोग भी किये थे। उन्हीं दिनों की एक कविता, 'स्वागत सुख' को देखें तो वहां छंद सायास आया है, हालांकि कविता में वाचक उसे व्यक्तित्व का हिस्सा बताता है :

जैसे जैसे यह लिखता हूँ, छंद बदन में नाच रहा है  
मन जिस सुख को लिख आया है, फिर फिर उसको बांच रहा है  
विह्वलता स्तंभित होगी यह, रच जायेगा मन में नर्तन  
इससे और सरलतर होगा इस स्वागत-सुख का अभिनंदन  
(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 70-71)

उन्हीं दिनों की कुछ कविताओं में छायावादी युग की छंदयोजना के प्रभाव भी दिखते हैं। उदाहरण के लिए, उनकी 'मर्म' कविता में निराला के प्रभाव को देखा जा सकता है :

तू हतविक्रम श्रमहीन दीन  
निज तन के आलस से मलीन  
माना यह कुंठा है युगीन  
पर तेरा कोई धर्म नहीं ?

यह रिक्त-अर्थ उन्मुक्त छंद  
संस्मरणहीन जैसे सुगंध  
यह तेरे मन का कुप्रबंध  
यह तो जीवन का मर्म नहीं ।  
(वही, पृ. 86)

उसी दौर में उन्होंने 'झेल लेंगे' कविता पारंपरिक कवित्त छंद में लिखी, हालांकि उस कविता में अपने समय के चिंतन के साथ एक गंभीर मुठभेड़ है। ऐसा लगता है कि पूरी कविता अज्ञेय के 'क्षण' और 'मौन' के फलसफ़े को चुनौती दे रही हो :

बैठे हो मौन, कहीं ठहरे हो अनुभव में ?  
 पैठे हो गहरे कि बैठे हो भरे हुए ?  
 क्षण में जीवित हो कि क्षण क्षण जीवित हो  
 कि क्षण में हो जीवित और क्षण में मरे हुए  
 हमने तो सहा था (कहा है किसी और ने)  
 जो हम कभी थे अब कह कर दूसरे हुए  
 तुम मत भुलाना बंधु, सह लेना, जी लेना  
 हां जी को थोड़ा और पोढ़ा करे हुए ।

(वही, पृ. 78)

और इसी कविता का अंतिम मशहूर छंद इसी बहस का समापन करता है जो उस समय छिड़ी हुई थी :

कहिए कि धीर धरें, पीर यदि परायी हो  
 तो उसकी यह एक भली तदबीर है  
 और जो कि अपनी हो , तो सुनिए बैठ कर  
 कथा महाभारत की है या कि पीर है  
 प्रेमिका की हो तो न कूट आप व्यर्थ करें,  
 प्रेमी बात का धनी और घर का अमीर है  
 जग की हो तो कोई बात नहीं झेल लेंगे,  
 झेलने को बैठा हुआ यहां रघुवीर है ।

(वही, पृ. 79)

शुरू की कविताओं में छंद के प्रयोग भाषिक खिलवाड़ के लिए किये गये थे, मगर बाद में उन्हें एक गंभीर कथ्य के लिए भी रघुवीर सहाय ने अपनाया। *आत्महत्या* के विरुद्ध संकलन में काफ़ी कविताएं छंदबद्ध हैं और गंभीर अर्थवत्ता लिए हुए हैं, उनमें बहुत अधिक भाषिक खिलंदड़ापन नहीं, 'आयरनी' (विडंबना) का बहुत ही काव्यात्मक प्रयोग छंद में भी मौजूद है :

राष्ट्रगीत में भला कौन वह  
 भारत भाग्य विधाता है  
 फटा सुथन्ना पहने जिसका  
 गुन हरचरना गाता है

कौन कौन है वह जन गण मन  
 अधिनायक वह महाबली

डरा हुआ मन बेमन जिसका  
बाजा रोज बजाता है

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 111)

अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने लोठार लुट्टसे से कहा था कि 'मैं मानता हूँ कि अब कविता की आवाज़ जब तक लोगों के कान में नहीं पड़ेगी तब तक कविता के जो शब्द हैं उनकी सच्चाई के बारे में कवि पर कोई दबाव नहीं रह जायेगा। कवि सच्चे ही शब्द कहे, लिखे इसके लिए ज़रूरी है कि वे शब्द लोगों को सुनायी पड़ें।' (लिखने का कारण, पृ. 102) रघुवीर सहाय की यही इच्छा रही होगी जिसकी वजह से हंसो हंसो जल्दी हंसो में काफ़ी कविताएं छंदबद्ध हो कर आयीं। उस संकलन की प्रसिद्ध कविताएं जो अक्सर 'सुनायी' पड़ती हैं छंदबद्ध ही हैं :

निर्धन जनता का शोषण है  
कह कर आप हंसे  
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है  
कह कर आप हंसे

कितने आप सुरक्षित होंगे  
मैं सोचने लगा  
सहसा मुझे अकेला पाकर  
फिर से आप हंसे ।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 163)

इसी तरह 'राष्ट्रीय प्रतिज्ञा', 'रामदास' आदि स्मरणीय कविताएं किसी न किसी तरह के छंद के शिल्प में रची गयीं। पानी को तरसने वाली शोषित जनता के पक्षधर बन कर रघुवीर सहाय जब कविता लिखते हैं तो स्वतः ही ऐसी छंदयोजना आने लगती है जो हमें नागार्जुन जैसे कवियों में मिलती है :

बरसों पानी को तरसाया  
जीवन से लाचार किया  
बरसों जनता की गंगा पर  
तुमने अत्याचार किया

धरती के अंदर का पानी  
हमको बाहर लाने दो

अपनी धरती अपना पानी  
अपनी रोटी खाने दो ।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 158)

रघुवीर सहाय को अपनी कविता के लिए यदि पारंपरिक छंद की ज़रूरत महसूस होती थी तो वे उसका बेहिचक प्रयोग करते थे। 'रामदास' कविता में स्वतः ही 16 मात्राओं वाला चौपाई छंद आ रहा था तो उन्होंने उसे आने दिया, सिर्फ़ हर खंड की अंतिम पंक्ति में कुछ जोड़कर नयापन ला दिया, मगर वह भी प्रभाव की सृष्टि के लिए ही किया। रामदास की हत्या में अंतर्निहित त्रासदी और नाटकीयता (वस्तुनिष्ठता) को पूरे आवेग से संप्रेषित करने के लिए गीत की टेक की तरह हर खंड की अंतिम पंक्ति को लंबा कर दिया :

खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर  
दोनों हाथ पेट पर रखकर  
सधे कदम रख करके आये  
लोग सिमट कर आंख गड़ाये  
लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या होगी

(वही, पृ. 169)

छंदवाली कविताओं की रचनाप्रक्रिया के बारे में रघुवीर सहाय ने खुद एक साक्षात्कार में अपने विचार यों रखे थे:

अगर आप छंद के रूप में लिखी किसी कविता के बारे में पूछें तो यह कुछ और कविताओं की रचना प्रक्रियाओं से अलग है। इनमें तो बहुधा छंद की ज़मीन पहलेआती है। उसमें कविता का जो एक तत्व है वह बहुत हवाई रूप में रहता है, लगभग एक कथ्य के, विचार के, गद्य के रूप में। जब ज़मीन बन जाती है तो उसकी शकल भी ज़मीन के आधार पर शुरू होती है। फिर बार बार काटने, बदलने, बनाने का सिलसिला शुरू होता है।

(रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर, असद ज़ैदी, पृ. 188)

इससे स्पष्ट है कि रघुवीर सहाय ने अपनी कविता की रचनाप्रक्रिया में अंत तक छंद से कोई परहेज़ नहीं किया। अमली तौर पर भी देखें तो उनके मरणोपरांत छपे कविता संकलन, *एक समय था* में भी कई कविताएं छंदवाली मिल जायेंगी। मसलन, 'उन्नति' की निम्नलिखित पंक्तियां देखी जा सकती हैं :

राज्य राज्य सब जगह / कहीं जगह नहीं खाली  
 इसी तरह बजती है / एक हाथ से ताली  
 आस पास में पुलिस / सेना पड़ोस में  
 ऐश में धंसे जन / उतराये अफ़सोस में

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 323)

यहां अपनी जन पक्षधरता को सशक्त तरीके से बयान करने के लिए कवि ने अपने ही छंद की रचना की और पूंजीवादी-सामंती समाज व्यवस्था के सुपरस्ट्रक्चर के रूप में पुलिस और सेना की असलियत को शायद इस निजी छंद के माध्यम से व्यक्त करना उन्हें ज़रूरी लगा। इस तरह रघुवीर सहाय की कविता में छंदबद्धता या गद्यमयता सिर्फ शिल्प के पहलू नहीं थे, वे उनके जनपक्षीय कथ्य को प्रभावी बनाने के साधन भर थे। जब भी उन्हें लगता था कि उनके कथ्य को छंद ज़्यादा प्रभावी ढंग से पेश कर पायेगा तो वे छंदबद्ध रचना करते थे और जहां गद्यमय रचना प्रभाव पैदा करती थी तो वे बेहिचक गद्यमय रचनाएं लिखते थे।

### रघुवीर सहाय की काव्यभाषा में लय

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि रघुवीर सहाय ने अपनी कविता में कथ्य के अनुरूप जहां छंदबद्ध कविताएं रचीं, वहीं छंदमुक्त और गद्यमय रचनाएं भी लिखीं। यह सिलसिला भी उनकी काव्ययात्रा में शुरू से ही मिलता है। यह ज़रूर हुआ है कि वैचारिक परिपक्वता और सामाजिक सरोकारों से लगाव के विकास के साथ उनके कृतित्व में गद्यमय कविताएं ज़्यादा आने लगीं। मगर उनकी कविताओं में लय का एक खास स्थान हमेशा रहा, रचना चाहे पद्यमय रही हो या गद्यमय। प्रारंभिक दौर में वे लय को एक खास किस्म के भाषिक खिलवाड़ के लिए इस्तेमाल करते थे। बाद में जैसे जैसे उनमें वैचारिक परिपक्वता और साधारण जन के साथ प्रतिबद्धता विकसित हुई उन्होंने भाषा की लय का तरह तरह से प्रयोग किया और उससे बहुत ही प्रभावकारी रचनाएं हिंदी साहित्य को दीं। विनोद दास ने ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय काव्य वस्तु की शिराओं में ज़्यादा रक्त पहुंचाने के उद्देश्य से अपने काव्य शिल्प को निरंतर खोजते और बदलते रहे। उनके काव्यशिल्प की विविधता में भी उनके लोकतांत्रिक मिजाज़ की झलक मिलती है। उन्होंने जहां कविता में गद्य सरीखे वाक्यांशों के लिए जगह बनायी, वहीं लय को भी नहीं छोड़ा। (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर व असद जैदी, पृ.164)

रघुवीर सहाय ने कहा था कि 'आधुनिक कविता में संसार के नये संगीत का विशेष स्थान है और वह आधुनिक संवेदना का आवश्यक अंग है। मैंने अपनी कुछ कविताओं में संगीत की खोज की है।' इस कथन में कवि की लय के संबंध में एक दृष्टि मिलती है। उनकी प्रारंभिक कविताओं में जहां छंद नहीं भी है, एक लय ज़रूर है। मसलन, *सीढियों पर धूप में*, की पहली, दूसरी, तीसरी कविताएं देखें तो हमें उनकी शुरू की कविताओं की लय का आस्वाद ज़रूर मिलेगा। दूसरी कविता, 'शक्ति दो' की पंक्तियां देखिए :

शक्ति दो, बल दो, हे पिता  
जब दुख के भार से मन थकने आय  
पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय  
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-विस्तर घर तक पहुंचा आयें  
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा—  
शक्ति दो

रघुवीर सहाय ने अपनी कविता से लय को कभी गायब नहीं होने दिया। आखिरी दिनों की कविताओं में भी यह लय बराबर बनी रही। *कुछ पते कुछ चिट्टियां* की 'सच क्या है' कविता की ये दो पंक्तियां भी उस लय को झंकृत कर रही हैं जो हमें उनकी शुरू की कविताओं में मिलती है :

इस झूठे करुणामय मन को धिक्कार है  
वह दुख ही सच्चा है जो हमने झेला है ।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 270)

प्रारंभिक दौर की मशहूर कविता 'दे दिया जाता हूं' जो कि गद्यमय है और जिसकी तारीफ़ अज्ञेय ने *सीढियों पर धूप में* की भूमिका में की थी आधुनिक कविता की अपनी लय को समाहित किये हुए थी, और गद्य की वह लय या आधुनिक संगीतात्मकता उनकी आखिरी दिनों की कविताओं में भी बनी रही। शुरू के दिनों की उस कविता की पंक्तियां देखिए :

लेकिन मैं,  
जो कि सिर्फ़ देखता हूं, तरस नहीं खाता, न चुमकारता  
न क्या हुआ क्या हुआ करता हूं



सुनता हूं और दे दिया जाता हूं ।  
देखो, देखो, अंधेरा है  
और अंधेरे में एक खुशबू है किसी फूल की  
रोशनी में जो सूख जाती है

(वही, पृ. 99)

गद्य की इसी लय को 'लोग भूल गये हैं' कविता में भी हम देखते हैं, हालांकि संवेदना के स्तर पर उनकी इस दौर की कविताओं में काफी बदलाव आया है, टोन भी बदली है, मगर लय बरकरार है:

आज के समाज का मानस यही है तुम कहते हो इस कविता में  
बगैर यह जाने कि तुम कितना कम इस समाज को जानते हो  
कितना कम जानते हो तुम उस डर के कारण को  
आज की संस्कृति का जो मूल स्रोत है ।  
और क्या जानते हो तुम अतीत को?

(वही, पृ. 225)

हंसो हंसो जल्दी हंसो की कविताओं में विडंबना का जो कलात्मक प्रयोग रघुवीर सहाय ने किया था और शासकवर्गों की अमानवीयता को तथा उनसे जुड़े बहुत से बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य की जो मार की थी, उसमें भी एक मारक लय का संधान किया गया था। उस संग्रह की बहुत सी कविताएं जहां छंदबद्ध थीं और उनकी आयरनी को बहुत ही तीखे ढंग से संप्रेषित करती थीं, वहीं गद्यमय कविताएं अपनी एक अलग लय छिपाये हुए थीं। उदाहरण के लिए उनकी 'बुद्धिजीवी का वक्तव्य' कविता को देखा जा सकता है :

मरने की इच्छा समर्थ की इच्छा है  
असहाय जीना चाहता है ।  
आओ सब मिलकर उसे बस जीवित रखें  
सब नष्ट हो जाने की कल्पना  
शासक की इच्छा है  
आओ हम सब मिलकर  
उसे छोड़ बाकी सब नष्ट करें  
सुंदर है सर्वनाश  
वही सर्वहारा के कष्टों को सार्थक करता है  
और हमारे कष्टों को मनोरंजक भी ।

(वही, पृ. 175)

इस तरह हम देखते हैं कि रघुवीर सहाय की कविता में लय के अनेक स्तर हैं। उसमें पारंपरिक छंदों वाली लय भी है और एकदम बोलचाल की भाषा की लय भी। जहां गैरनाटकीय हिस्से हैं वहां एकदम आत्मीय बातचीत की लय है और अनेक हिस्सों में नाटकीयता और विडंबना के साथ तरह तरह के तेवर लिए हुए लय का इस्तेमाल किया गया है। अरुण कमल ने ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की कविता के संबंध में बोलचाल की भाषा और लय वाली बात जड़ जमा चुकी है। लेकिन यह देखकर विस्मय होता है कि उनकी अनेक श्रेष्ठ कविताएं पारंपरिक छंदों के नये उपयोग से निर्मित हैं। 'आपकी हंसी', 'पानी', 'एक दिन रेल में', 'लुभाना', और कई-कई - इनके अलावा कहीं भी अचानक किसी पुरानी लय की अनुगूंज। रघुवीर सहाय की कविता में, कवि की इच्छा के अनुसार, लय के अनेक संस्मरण हैं। (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर, असद जैदी, पृ. 103)

**रचनाकाल : दिसंबर 2009**

## विजयदेव नारायण साही की कविता

विजयदेव नारायण साही नयी कविता के दौर के दुरुह कवियों में से एक थे। उनकी कविता में एक विकास जरूर हुआ जिसकी मिसाल उनकी *साखी* की अंतिम कविताओं में मिलती है। यदि वे जीवित रहते तो शायद इस क्रम को आगे बढ़ाते। साही जी नहीं रहे, अब वे जो कुछ है अपने रचना-शरीर में ही हैं। उस रचना-शरीर में होने की उनकी अपनी इयत्ता है, वस्तुगत अस्मिता है जिसको विश्लेषित-संश्लेषित किया जाना चाहिए और हो सके तो मूल्यांकित किया जाना चाहिए। *तीसरा सप्तक* की कविताओं से लेकर *मछलीघर* और *साखी* तक की उनकी रचनाएं उनकी कविता की एक मुकम्मल तसवीर बना देती हैं जिनमें साही जी का कविरूप अपनी विकासप्रक्रिया में देखा जा सकता है।

यदि साही जी की कविताओं का विश्लेषण इस नुक्ते से शुरू करें कि साही जी अमुक थे, साही जी तमुक थे, वे घनघोर कम्युनिज्म-विरोधी थे, वे प्रतिक्रियावादी थे (जैसा कि पद्धति के तौर पर आलोचना में बहुत बार हुआ है) तो हमारी आलोचना 'इंटरेशनल फ़ैलसी' का शिकार होगी, उसमें वस्तुगत विश्लेषण का अभाव रहेगा। साही जी की कविताएं गंभीर विश्लेषण की मांग करती हैं। उनमें कोई एक तरह का सपाट संवेदनात्मक उद्देश्य नहीं है जिसे एक शब्द में या महत्तम समापवर्त्य की तरह पेश किया जा सके। उनकी कविता में संवेदना की अनेक परतें हैं, जटिलताएं हैं, अंतर्विरोध हैं, गुत्थियां हैं, पहेलियां हैं और सरल दिखने वाली अभिव्यक्ति की ओर उनका विकास भी है।

*तीसरा सप्तक* में उनकी बीस कविताएं छायावाद से लेकर अज्ञेय तक के प्रभावों की कविताएं हैं जिनमें अपना तर्ज-ए-बया तलाश करते की जद्दोजहद दिखायी पड़ती है। यथार्थ और आदर्शों के बीच का तनाव साही जी की शुरू की कविताओं में ही मिल जाता है। 'मानव राग' में जहां वाचक 'सरल धरती का अभिलाषी' है वहां 'नीड़ खोजती मुक्त कल्पना आकाशी' भी है। इस दौर के तमाम कवि छायावाद की आकाशचारी मुक्त कल्पना छोड़ कर धरती के गीत, यथार्थ के चित्र ही पेश करना चाहते थे, मगर बदलता यथार्थ इतना सरल और ऋजु नहीं होता है कि उसे आसानी से बांधा जा सके। इस प्रयास में या तो कवि अंतर्मुखी हो जाता है या यथार्थ को

विकृत करने लगता है या भीतर बाहर के संघर्ष को, तनाव को झेलता हुआ अभिव्यक्ति के नये माध्यम ईजाद करता है। साही जी की शुरु की कविताएं इस कशमकश में कभी छायावाद और कभी अज्ञेय के मुहावरे की अनुकृति करती हैं। अगर 'मानव राग' या 'संग संग के गान' में लय और कथ्य पर छायावाद की छाया स्पष्ट दिखती है तो 'दोपहर नदी स्नान' में 'ओ सलिला, तुम्हारे हृदय को तलवासिनी यह रेत / मुठ्ठी में उठा तप्त मस्तक से लगाकर मांगता हूँ' जैसे अंशों में अज्ञेय के स्वर गूँजते हैं। इसी तरह तीसरा सप्तक की अंतिम कविता 'विषकन्या के नाम' में भी अज्ञेय-भारती के सौजन्य से प्राप्त रचना-चेतना मिल जाती है। साही जी का अपना रचना-व्यक्तित्व इन कविताओं में नहीं बन पाता है। शायद उनका अपना अस्ति-नास्ति का तनाव ही उनसे यह लिखवा रहा था :

ज़िंदगी कुछ इस तरह खामोशियों से भर गयी  
 खोजता फिरता हूँ दिल का दर्द पर पाता नहीं  
 दर्द से जैसे झुकी आती हैं पलकें बार बार  
 और रोने में भी पहले सा मज़ा आता नहीं।

साही जी ने तीसरा सप्तक के वक्तव्य में कहा था कि 'कवि की अमरता गलतफहमी पर निर्भर करती है। जिस कवि में ग़लत समझे जाने का जितना अधिक सामर्थ्य होता है, वह उतना ही दीर्घजीवी होता है।' अपनी कविताओं को इसी ग़लतफहमी के कारण वे दुरुह बनाते गये और यथार्थ को विकृत करने की कोशिश करते रहे। इस वक्तव्य में शायद उनका यह आशय छिपा था कि जिस कवि में जितनी अधिक 'एंबीगुइटी' होगी, वह उतना ही समर्थ कवि होगा। साही जी ने अपनी कविताओं में अनेक प्रकार की एंबीगुइटी (विलियम एंपसन की सात प्रकार की ही नहीं) भरने की कोशिश की है। इसका नतीजा यह हुआ कि वे यथार्थ के इस सीमा तक विकृत करने लगे कि कविता का कथ्य ही ग़ायब हो गया, वह मात्र टूटे बिंबों का एक अर्थहीन ढेर बनकर रह गयी। बिंब भी यदि संवेदना के किसी छोर को छूने वाले हों तो निष्प्रयोजन नहीं होते। साही जी के बिंब भी किसी तरह की कोई संवेदना नहीं जगाते क्योंकि वहां बिंब सिर्फ बिंब के लिए होता है। यही वजह रही कि तीसरा सप्तक के अन्य कई कवियों जैसे केदारनाथ सिंह, कुंवरनारायण या सर्वेश्वर की कोटि में वे नहीं आ पाते। कविता में सिर्फ कलात्मकता या सिर्फ विचारवत्ता भर देने से काम नहीं चलता। केदारनाथ सिंह की 'अनागत' कविता में या 'विदा गीत' में या 'निराकार की पुकार' में संवेदन जगाने का जो सामर्थ्य था, उसने सबका ध्यान आकृष्ट किया था। इसके विपरीत साही के शुरु के इस दौर की कविताएं बार बार

पढ़ने पर भी बोझिल शब्दजाल से ज्यादा कुछ नहीं लगती, वे संवेदना के किसी भी स्तर को नहीं छूतीं। यही वजह है कि वे अनायास ही उपेक्षा का शिकार हुईं जबकि अन्य कवियों की कविता ने पाठकों के एक हिस्से में अपना असर किया। स्पष्ट कहें तो साही जी की रचनाएं उस दौर में कविता बनते बनते रह गयीं। उनका रचना-व्यक्तित्व उन दिनों की कविताओं से नहीं बनता। वहां तो कवि केवल अपने होने भर का एहसास दे पाता है, 'एक भ्रम है यही / जो इस व्यर्थ जीने को / नया सा अर्थ देता है / जीने के लिए सामर्थ्य देता है।'

*मछलीघर* की कविताओं में साही जी का रचना-व्यक्तित्व उभरता है, वहां कालबोध और ज्ञानात्मक संवेदन की जटिल प्रक्रिया हमें कला-संवेग (आर्ट इमोशन) के रूप में प्रतिफलित होती दिखायी देती है। *मछलीघर* में साही जी सजग रूप से एक दार्शनिक आधार तलाश करते दिखायी देते हैं। उस दौर के ज़्यादातर नये कवियों और साहित्यकारों को अस्तित्ववादी दर्शन ने और कविता के फार्म के स्तर पर पश्चिम के बिंबवादियों और सररियलिस्ट आदि आंदोलनों ने प्रभावित किया था। साही जी की कविता में कंटेट के स्तर पर अस्तित्ववादी सवाल उभरते हैं और फार्म के स्तर पर डायलन टामस की तरह की ऊलजलूलता आती है। कंटेट के स्तर पर अस्तित्ववादी आधुनिकतावादियों की ही तरह साही जी के *मछलीघर* में भी सर्वाधिक घसीटा गया 'अकेलापन' आता है। 'अंधेरे गोलाखंड की रात' में वाचक कहता है कि 'आज की रात / मैं फिर अकेला छूट गया हूं।' इसी तरह खोये हुए यात्री की यात्रा में 'ठहरे हुए समुद्र में / अकेली यात्रा---/ गुम, बिल्कुल गुम, यात्री की' हमें देखने को मिलती है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'एक आत्मीय बातचीत की याद' में अकेलेपन का आलाप (धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' की तर्ज पर) हमें सुनायी पड़ता है : 'इन निष्कलंक क्षणों में / हम क्यों इतने अकेले पड़ जाते हैं?' इसी तरह 'घाटी का आखिरी आदमी' में 'अकेला पीला फूल / अनिश्चित चिड़िया की तरह पंख खोल खोलकर रह जाता है / उड़ता नहीं।' अज्ञेय की तर्ज पर लिखी 'दे दे इस साहसी अकेले को' कविता में भी अकेलापन थीम के रूप में मौजूद है। 'हिमालय की याद में एक पत्र' में, जो जगदीश गुप्त को समर्पित है 'अकेली राह को सहसा जिला कर छोड़ देता जंगली पाटल' है। 'एक अर्धविस्मृत मित्र के नाम' कविता में भी वाचक कहता है, 'इस गुमनाम सफ़र में/तुम्हारे साथ में नहीं हूं / अकेले तुम्ही हो। एक और रचना, 'युद्ध कविता' में भी इसी अकेलेपन की दुंदुभि बजायी गयी है :

वक्तव्यों, दुर्घटनाओं, उद्बोधनों, आदेशों  
और लंबी व्याख्याओं से भरे हुए  
अख़बार के गूठर को कवाड़ी के हाथ बेच देने के बाद

में फिर अकेला, निरस्त्र  
सामना करता हूँ भविष्य का ।

‘तीसरे पहर का चित्र’ में तो गिलगरी तक ‘चुपके से उतर कर/ अकेले में/ क्यारियों में बहते हुए पानी को / पीती है।’

विजयदेव नारायण साही ने ‘शमशेर की काव्यनुभूति की बनावट’ पर विचार करते हुए लिखा था : ‘कविता शब्दों और शब्दों के संयोग से नहीं बनती, बल्कि शब्दों का जाल जो यथार्थ पर फेंका जाता है, उससे बनती है। यह फेंका जाल ही अर्थ है।’ दरअसल वे उसी बहुपरिचित वक्तव्य को बिंबात्मक तरीके से दुहरा रहे थे जिस विश्व के तमाम रूपवादियों ने तरह तरह से पेश किया है और अमेरिकी आलेचक मार्शल मैकलुआन ने ‘फार्म इज़ कंटेंट’ कह कर फार्मुलाबद्ध किया। शमशेर की कविता की व्याख्या (?) भी उन्होंने बिंबों के प्रभाव को रेखांकित करके की थी। प्रसिद्ध प्रतीकवादी मलार्मे के एक कथन को उन्होंने अपना आदर्श प्रतिमान माना था जिसमें मलार्मे ने ‘सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितांत न-कुछ के प्रति बंजर प्रेम’ करने की सलाह कवियों को दी थी। साही जी ने भी अपना काव्यादर्श इसी विचारधारा को माना था। ‘सृष्टि से नफ़रत’ करने के बाद अपना भीतरी ‘न-कुछ’ ही बच रहता है, इसीलिए उसी नितांत न-कुछ को दो हिस्सों में बांट कर (जिसमें एक को ‘स्व’ यानी सेल्फ़ और दूसरे को ‘प्रतिस्व’ या एंटीसेल्फ़ कह लें) तनाव की सृष्टि की गयी है। साही जी के लिए, जैसा कि शमशेर जी के संदर्भ में उन्होंने लिखा भी था, ‘काव्यानुभूति का क्षण...अपने को ही दो हिस्सों में विभाजित पाने का क्षण है।’ साही जी अपनी कविताओं में अपनी ही निजता या अपने ही ‘स्व’ के दो हिस्सों में (जिन्हें वे ‘अस्तित्व’ और ‘अनस्तित्व’ कहना पसंद करते) जद्दोजहद कराते हैं, उन्ही में डायलाग होता है। जहां यह डायलाग नहीं होता वहां शुद्ध बिंबरचना होती है। इस बिंबरचना में बाहर की मानवी सृष्टि सायास नहीं रखी जाती, अलबत्ता पर्वत, नदियां, समुद्र, पेड़ पौधे ज़रूर होते हैं। इस सृष्टि से ‘नफ़रत’ नहीं होती, मानव समाज से नफ़रत ज़रूर होती है। मानव समाज की तरफ़ देखने का अर्थ बहिर्मुखी होना होता है, अतः काव्यरचना के लिए बाधा उत्पन्न कर सकता है। ‘नितांत न-कुछ के प्रति बंजर प्रेम’ अंतर्मुखता का पर्याय है (मूंदहु आंखि कतउ कोउ नाही) जोकि काव्यरचना में सहायक होता है। इसी काव्यादर्श के तहत साही जी अंतर्मुखी होकर अपनी निजता के बीच तनाव की रचना करते हैं।

‘स्व’ और ‘प्रतिस्व’ के बीच के झगड़े को अस्तित्ववादी रंगत के साथ *मछलीघर* की कई कविताओं में देखा जा सकता है। इसी झगड़े के आधार पर उन कविताओं को समझा भी जा सकता है अन्यथा वे ‘शब्दों का जाल’ मात्र ही लगेंगी।

उदाहरण के लिए, 'सामने, आसपास, पीछे' कविता में काल के तीन खंडों को यानी 'सामने' भविष्य, 'आसपास' वर्तमान और 'पीछे' अतीत को लिया गया है और उन्हें दर्शाने वाले तीन बिंबों के सहारे 'स्व' और 'प्रतिस्व' जिसमें एक वाचक और एक 'तुम' है, चित्रित किया गया है। कविता के पहले खंड में 'एक तीर' के कलाबिंब के द्वारा भविष्य का संकेत दिया गया है :

जब भी तुम आंखें उठाओगे  
तुम्हें सामने वह तीर  
जाता दिखायी देगा  
उसका कोई लक्ष्य नहीं है...  
वह केवल जाता रहता है  
उजला, जगमगाता

अस्तित्ववादियों की तरह यहां भविष्य की निरर्थकता का बोध कराने की कोशिश है। भविष्य का 'कोई लक्ष्य नहीं' मानने वाले वे लोग हो सकते हैं जिन्हें इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या का पता नहीं है, जो उसके विकास की मंजिलों से वाकिफ़ नहीं हैं। मुक्तिबोध इतिहास की गति को जानते थे, वे उस भविष्य को भी जानते थे, जिसके बारे में वे कह रहे थे, 'यह भवितव्य अटल है/ इसको अंधियारे में झोंक न सकते। साही जी इस भवितव्य के बारे में आश्वस्त नहीं थे, इसीलिए उक्त पंक्तियों में 'उसका कोई लक्ष्य नहीं है'।

कविता के दूसरे खंड में अतीत को 'मरे हुए पक्षी की तरह' चित्रित किया गया है :

मरे हुए पक्षी की तरह  
हमेशा तुम्हारे पैरों के पास  
पड़ा रहता है  
और तुम्हारे बोलते ही  
फिर बोलते लगना है  
तुम कभी भी  
उससे छूटकारा नहीं पा सकते ।

कविता के तीसरे खंड में वर्तमान 'एक काली चट्टान' के बिंब के माध्यम से दर्शाया गया है जिस पर समय की 'बेतहाशा धारा अपना सिर पटकती है।' वर्तमान में ही वाचक को अस्तित्व और 'नितांत न-कुछ का बोध होता है। वर्डस्वर्थ के 'द प्रिल्यूड'

के प्रथम अध्याय से एक बिंब ज्यों का त्यों उठाकर साही जी ने उसमें नया अर्थ भरा है। वर्डस्वर्थ की कृति में चिड़या की चोरी के बाद वाचक का पीछा करने वाला उसके बालमन में पैठा प्रकृति-प्रदत्त नैतिकताबोध है, साही जी की कविता में वह अस्तित्ववादियों का मृत्युबोध है, न-कुछता का एहसास है, 'एंग्विश' है :

वहां भी  
जहां चीड़ के खामोश वन हैं  
और सांत्वना देने वाली हिमचोटियां हैं  
जहां नदी का शोर नहीं पहुंचता,  
वहां तुम्हे लगेगा  
कि पीछा करने वाले जानवर की तरह  
कोई तुम्हारे पीछे आ रहा है।

दरअसल, जब सारा ध्यान निजता पर रहता है (जो कि अस्तित्ववाद का मूलाधार है) तब मृत्युभय ही हाथ लगता है। यह मृत्युभय टूटते मध्यवर्ग और विश्व स्तर पर पतनशील पूंजीवाद की चेतना का परोक्ष परिणाम है। यह मृत्युभय साही जी की कविताओं में भी है जो 'पीछा करने वाले जानवर की तरह' तमाम निजबद्ध रचनाकारों का पीछा करता रहा है। अस्तित्व को समाज-सापेक्ष मानने पर हम अपने जीवन मरण की नहीं, पूरी मानवता की रक्षा और विकास की चिंता करते हैं, अपनी अमरता भी समाज के अस्तित्व में ही खोजते हैं। कोई रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से तभी तक अमर है जब तक मानव-समाज है। यदि किसी आणविक विभीषिका से यदि मानव समाज खत्म हो गया, तो न बाल्मीकि बचेंगे और न कालिदास, न शेक्सपियर और न एलियट, न भारती जो कहते हैं कि 'हम न मरें मरिहै संसारा' और न साही और न हममें से कोई। सबकी अमरता खत्म।

रचना-अस्तित्व भी अंततोगत्वा समाज पर ही निर्भर है। इसीलिए तो आज विश्व भर के जागरूक रचनाकार अमरीकी साम्राज्यवाद के विध्वंसकारी कदमों के खिलाफ और शांति के पक्ष में आवाज़ बुलंद करते रहे हैं। क्योंकि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था अपने अंदरूनी संकट से उबरने के लिए युद्ध का सहारा लेने की आत्मघाती चाल चलती आ रही है और इस तरह के शोषण से मुक्त समाजवादी दुनिया का सपना ध्वस्त कर देना चाहती है जिससे कि अपने लिए पहले की तरह बाज़ार और मुनाफ़ा हासिल कर सके और वहां से कच्चा माल और सस्ता मज़दूर हासिल कर सके। इस तरह विश्व-मानवता पर एक गंभीर खतरा मंडारता रहा है। यह खतरा रचनाकार के अस्तित्व के लिए भी उतना ही गंभीर है जितना आज़ादीपंसद अवाम के लिए और सर्वहारा की शोषणहीन समाजवादी व्यवस्था



के लिए। साही जी जैसे रचनाकारों का ध्यान अस्तित्व की इस व्यापक समस्या की और नहीं गया क्योंकि निजबद्ध रचनाकार अक्सर अपने जीवन या मृत्यु से परे जाकर मिथ्याचेतना की वजह से इस समस्या पर कभी नहीं सोच पाये।

मगर यह स्वकेंद्रित अनुभूति साही जी अपना गुनाह नहीं थी, उन्हें ऐसा बना देने वाली शक्तियां यहां के सामाजिक आधार में मौजूद हैं। पूंजीवादी सामंती वर्गों के हाथों में नाचने वाले हमारे वर्गसमाज में असुरक्षा, अकेलेपन और मनुष्य को खंड खंड कर देने वाली शोषकवर्गीय विचारपूंजी ने हमारे मध्यवर्गीय रचनाकारों को अपनी गिरफ्त में लिया हुआ था। उस ज़माने में अज्ञेय-भारती इस विचारपूंजी के सबसे बड़े पिटारा थे। साही जी पर इन पिटारों का ख़ासा असर था। *मछलीघर* संग्रह की अनेक कविताएं इस सचाई का सबूत हैं। 'अंधरे गोलाद्ध की रात' में वाचक जिस अस्तित्ववादी शब्दावली को, जैसे 'मैं फिर अकेला छूट गया हूँ' आदि, दुहराता है, वह उसे अज्ञेय की तरह गुफागेह की ओर ले जाती है :

और मैं गुफा में से  
डरी हुई प्रतीक्षारत, अचूक आंखें खोले हुए  
इस आदिम अंधकार को तौलने की कोशिश करता हूँ।

'मछलीघर' कविता में 'खिड़की के पार / तुम्हें अपनी ओर ताकती हुई/ दो आसमान सरीखी आंखें दिखेंगी' -- ये आँखें उसी मछली की हैं, जिसे अज्ञेय ने जिजीविषा के प्रतीक के रूप में अपनी कई कविताओं में खूब उछाला। बिंब ही नहीं, मछलीघर का चित्र भी अज्ञेय का है। इसी तरह 'छापामार दस्ते' कविता की संवेदना लगभग वही है जो धर्मवीर भारती की *कनुप्रिया* में है। साही का वाचक क़रीब क़रीब उसी तर्ज-ए-बयां में कहता है :

तुम हमारा जिक्र इतिहासों में  
नहीं पाओगे  
और न उस कराह का  
जो तुमने आज रात सुनी  
क्योंकि हमने अपने को  
इतिहासों के विरुद्ध दे दिया है ।

साही जी में मृत्युबोध की मेटाफ़िज़िकल तीव्रता उनकी एक बेहतरीन कविता 'अलविदा' में कलात्मक रूप में उभरी है। इस जोड़ का मृत्युबोध अमेरिकी कवयित्री एमिली डिकिंसन की कविताओं के अलावा अन्यत्र मुश्किल से ही मिलता है। साही

जी की कविता में यह थीम और अधिक गहराई लिये हुए है क्योंकि इसमें अस्मिता के लोप की आधुनिकतावादी सोच-प्रक्रिया भी शामिल है। फैंटेसी के फार्म के माध्यम से 'अलविदा' में मृत्यु को एक 'हसीन' चेहरे के रूप में चित्रित किया गया है :

रात होते ही  
खिड़की के पार से  
वह हसीन चेहरा झांकेगा  
जिसके बारे में तुम सुन चुके हो

'अलविदा' कविता में वाचक अस्तित्व के दोनों पक्षों पर यानी भौतिक अस्तित्व और रचना-अस्तित्व के सवालों से जूझता है। सार्त्र की मशहूर सूक्ति है, भौतिक अस्तित्व से ही रचना-अस्तित्व निर्धारित होता है जो शरीरांत के बाद भी रहता है। साही जी ने उसका काव्यात्मक प्रयोग यों किया :

और तुम्हारे भीतर से उसका जन्म होगा  
जो तुम्हारी और से  
बिना तुम्हारी अनुमति के बोलता है  
वही तुम्हारी रक्षा करता है।

'अलविदा' तक आते आते साही जी की काव्य-प्रक्रिया एक परिपक्वता हासिल कर चुकी थी, यह वह पड़ाव था जहां कलात्मक बोध और संवेदन का संतुलन बनने लगा था। यही वजह है कि 'अस्तित्व' कविता हमारी संवेदना के गहरे स्तरों को छूती है, वह मात्र बुद्धिविलास नहीं है।

साही जी की कविता की यह परिपक्वता *साखी* संकलन में और अधिक उभरती है। ऐसा नहीं है कि *साखी* में कमज़ोर या पुराने ढर्रे की कविताएं नहीं हैं, मगर अंत तक उन कविताओं की दिशा 'अलविदा' की परिपक्वता की ओर ही जाती है। शुरू की कविताओं में वे ही पुराने प्रश्न, अस्तित्व और अनस्तित्व के प्रश्न, कुहराम मचाते हैं। मसलन, 'लकीर की समाप्ति पर एक आदमी' कविता में 'वह मुड़कर सोच रहा है/ कि इन निशानों का अस्तित्व / उसके चलने के पहले था या नहीं।' इसी तरह 'आश्चर्य यह है / कि वह आज तक यह हल नहीं कर पाया/ कि ये निशान उसे निर्मित करते हैं/ या वह इन निशानों को निर्मित करता है'। अन्य कविताओं जैसे 'एक आवश्यक घटनाक्रम' में, फिर 'कृएं में कोई गिर गया है, 'एक कार दुर्घटना की याद', 'कौन पुकारता है' आदि में हम इसी बोध को दुहराया गया पाते हैं। इन तमाम कविताओं में भिन्न भिन्न दृश्यबिंबों से अस्तित्व और अनस्तित्व

के सवालों को रूपायित करने की कोशिश की गयी है।

*साखी* में साही जी ने फ़ैटेंसी के अद्भुत प्रयोग किये हैं, शायद मुक्तिबोध के बाद साही जी के हाथों ही फ़ैटेंसी एक बार फिर कविता की परिपक्व अभिव्यक्ति का माध्यम बनी, हालांकि दोनों कवियों के विचारधारात्मक आधारों में कोई समानता नहीं। मुक्तिबोध के वाचक फ़ैटेंसी की प्रक्रिया में परिणत होते हैं, मिथ्या चेतना के 'अंधेरे में' से निकल कर वैज्ञानिक चेतना की 'सुबह की धूप' की ओर जाते हैं और 'परिणत' होते हैं, साही जी के वाचक इस प्रक्रिया में निजवद्ध ही रहते हैं और मेटाफ़िज़िकल मृत्युबोध ही हासिल करते हैं और मृत्यु के आबेशन को ही जीते हैं। इस आबेशन की एक और उम्दा मिसाल 'मृत्यु के लिए' शीर्षक कविता *साखी* संग्रह में ही है। अमेरिकी कवयित्री एमिली डिकिंसन ने कालदेवता को अपने प्रेमी के रूप में चित्रित किया था, साही जी मृत्यु को अपनी प्रेमिका के रूप में व्यक्त करते हैं :

एक न एक दिन तो यह होता ही  
कि तुम मेरे सामने आकर खड़ी होतीं  
और हाथ पकड़कर कहतीं  
चलो तुम्हें साथ ले चलने के लिए  
आ गयी हूँ।  
अच्छा हुआ कि वह दिन आज ही आ गया  
और तुमने मुझे सोचने का अवसर भी नहीं दिया।

इस तरह साही जी अमूर्त को भी चित्र बना कर पेश करने के अभ्यस्त हैं। जिस तरह वे मृत्यु के एहसास का चित्र बार बार उतारते हैं, उसी तरह अस्तित्व और जिजीविषा को भी जगह जगह चित्रित करते हैं। 'सांप काटे हुए भाई से' या 'अभी नहीं' कविताओं में यह बोध कलात्मक एहसास पाता है। 'अभी नहीं' में जिजीविषा और मुक्ति का चित्र देखने लायक है :

ठहरो अभी तुम्हारे मरने का वक़्त नहीं आया है  
गले में फंसी हुई रस्सी खोल दो  
देखो, अभी भी खिड़की के बाहर  
खुली हुई हवा है  
इसमें और कुछ नहीं  
तो गहरी सांस तो ली ही जा सकती है ।

साखी संग्रह में भी ऐसी काफ़ी कविताएँ हैं जिनमें आधुनिकवादी थीमों संशय, घुटन, ऊब, बिखराव, टूटन, अकेलापन और आत्मनिर्वासन आदि को लिया गया है। मसलन, 'सारा का सारा हेमंत' कविता में वाचक ऊब का शिकार है :

सारा का सारा हेमंत  
इसी तरह बीत गया  
खिड़की के बाहर देखते  
या बरोसी के सामने हाथ सेंकते ।

इसी तरह 'मकान' में बिखराव की तसवीर पेश की गयी है। वाचक कहता है : 'धीरे धीरे यह मकान गिर रहा है/ आज रात ऊपर से एक ईट गिरी/ खडखड़ाहट की ध्वनि/ मुझे डरा गयी। 'अकेले पेड़ों का तूफ़ान', 'क्रूसो' और 'आखिरी कैदी' में फिर वही अकेलापन थीम बन कर उभरा है जिस पर नयी कविता के अस्तित्ववादी खेमे ने ढेरों कविताएँ लिखीं।

मगर साखी की कविताओं में एक विकास भी है। खासकर उसमें संकलित बाद की कविताओं में साही जी की कला का एक दूसरा ही रूप सामने आता है। वहां कविताओं में वाचक पहले की तरह अंतर्मुखी नहीं है, अब उन्हें जगतगति भी व्यापती है। इन कविताओं में राजनीतिक कविताएं भी हैं जहां व्यंग्य की धार मौजूदा पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था का आपरेशन करती है और जो साही जी को एक आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकार बनाती है। इस श्रृंखला की एक अनूठी कविता है, 'बहस के बाद'। इस व्यवस्था की पूरी बेहूदगी इस कविता में प्रभावकारी ढंग से उजागर की गयी है। इसमें 'नहीं, नहीं असली सवाल है' की ठेक द्वारा देश की राजनीतिक सामाजिक हालत का नक़शा पेश किया गया है। यह कविता उनके रचनाकर्म को उस विकासबिंदु की ओर ले जाती है जिसके शिखरस्थ कवि नागार्जुन हैं। साखी संग्रह की असली साखियां इसी तरह की हैं जिन्हें कबीर की 'सुनो भाई साधो' की छाप द्वारा कलात्मक रूप दिया गया है और अतीत की वर्तमानता को कारगर ढंग से स्थापित किया गया है। ये साखियां निश्चय ही कबीर की परंपरा से जुड़ती हैं हालांकि इस परंपरा में साही जी मुक्तिबोध से बहुत पीछे रहते हैं। मुक्तिबोध के पास वर्गचेतस दृष्टि थी, ये तमाम सामाजिक राजनीतिक और सौंदर्यशास्त्रीय सवालों की वर्गीय नज़रिये से देखते थे, मगर साही जी के पास वह दृष्टि न होने से सारे सवाल गड्डमड्ड हो गये। इसीलिए 'बहस के बाद' में वाचक अंत में कहता है :

सुनो भाई साधो  
 असली सवाल है  
 कि असली सवाल क्या है

मुक्तिबोध के सामने जब भी 'प्रश्नचिह्न बौखला उठे' तो उनका ध्यान मूल समस्या पर गया और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'समस्या एक/ मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में सभी मानव सुखी, सुंदर व शोषणमुक्त कब होंगे?' मुक्तिबोध यह भी जानते थे कि इस समस्या का समाधान एक जटिल प्रक्रिया है, शोषणमुक्त समाज के लिए होने वाली क्रांति किसी एक व्यक्ति या छोटे संप्रदाय या दस पांच क्रांतिकारियों के व्यक्तिगत आतंकवाद द्वारा संपन्न नहीं होती, क्रांति तो सर्वहारा के पक्ष में वर्गों के संतुलन पैदा होने और शोषकवर्गों द्वारा शासन करने में अक्षमता पैदा होने पर ही संभव होती है। मुक्तिबोध इस समूची प्रक्रिया को समझते थे जैसा कि उनकी 'अंधेरे में' कविता और उनके गद्य लेखन से ज़ाहिर होता है। साही जी के पास चेतना का यह वैज्ञानिक स्तर नहीं था। उनके पास पतनशील पूंजीवाद द्वारा दी गयी चेतना अवश्य थी, उसकी बिसंगतियों का, उसमें पनप रहे जनविरोधी रुझानों का, शासकों में सर उठा रही तानाशाही प्रवृत्तियों का एहसास उन्हें होने लगा था। यह एहसास उनकी बाद की कविताओं में झलकता है। साखी संकलन में 'अंत में सूत्रधार का वक्तव्य' शीर्षक कविता एक ऐसी ही राजनीतिक कविता है जिसमें तानाशाही का चित्र 'एक औरत' के बिंब द्वारा पेश किया गया है जो अपनी बातों से विरोधियों के प्रति लोगों में नफरत पैदा करती है :

शायद गहरी नफरत से सम्मोहन उपजता है  
 शायद सम्मोहन से दहशत  
 और दहशत से सन्नाटा उपजता है  
 तब वह समय आता है  
 जब शरीफ़ आदमी यह नहीं सोचता  
 कि क्या हो रहा है

इसी तरह 'बादशाह अकबर के नाम' भी एक राजनीतिक कविता है जो शासक वर्ग पर व्यंग्य द्वारा प्रहार करती है। 'औरेबी हमसफ़र' में उत्पीड़ित शोषित जन की तसवीर है जिसकी आंखों में वाचक यह लिखा हुआ पाता है कि

देखो न, मेरे कंधे पर न जाने यह कैसा जुआ  
डाल दिया गया है  
कि मैं वक्र चलने के लिए मजबूर हूँ

एक अन्य कविता 'वरदान देने वाले देवताओं की ओर से' भी एक राजनीतिक कविता है। तानाशाही के हालात में व्यवस्था के कर्णधार देवता अबाम को निर्भय करने के वरदान द्वारा ही भयभीत करते हैं :

क्या तुम नहीं जानते  
कि देवता जब भी वरदान देते हैं  
तो उनमें एक नहीं कई अर्थ होते हैं?  
तुम्हारे भय के कारणों का शमन कर दिया गया है  
लेकिन तुम्हें निर्भय नहीं किया गया  
क्योंकि अब तुम्हें कुहराम से नहीं  
सन्नाटे से भय लगेगा ।

ये तमाम कविताएं साही जी की विकसित काव्यदिशा की सूचक हैं। जिस तरह रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि कई कवि अपनी कविताओं में जनवादविरोधी तानाशाही ताकतों के विरोध में खड़े हुए थे, उसी तरह साही जी भी अपनी परवर्ती रचनाओं में तानाशाही द्वारा आरोपित सन्नाटे के खिलाफ खड़े दिखते हैं। उनकी चेतना का यह विकास सकारात्मक था, इसे नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। इस चेतना से लैस कविताएं हमारे आज के जनवादी आंदोलन का अविभाज्य हिस्सा हैं। इस तरह साही जी की ये साखियां वस्तुगत रूप में जनवादी काव्यधारा को बल पहुंचाती हैं भले ही आत्मगत रूप में साही जी सर्वहारावर्ग की विचारधारा और उसके राजनीतिक आंदोलन के विरोध में रहे हों (सर्वेवर जी की लगभग यही स्थिति थी)। उनके पास घटनाओं को वर्गीय नज़रिये से देखने की विकसित समझ नहीं थी, मगर अनुभूत सत्यों को भला कब तक अनदेखा किया जा सकता है? कोई भी कवि कलाकार कब तक अंतर्मुखी रह सकता है? साही जी की बाद की कविताएं वक्त के दबाव में समाजनिरपेक्ष न रह सकीं। 'पराजय के बाद' कविता पढ़ने पर ऐसा लगता है मानों कवि जनतापार्टी के टूटने, बिखरने पर और कांग्रेस की वापसी पर काव्यात्मक प्रतिक्रिया कर रहा हो :

इसी बीच आसेतु पृथ्वी पर  
और थे अपने अपने एकांत में

जीत और गद्दारी के  
पुराण रचते रहे  
सुनो भाई साधो  
सब जग अंधा हो गया है  
मैं किसको समझाऊँ ?

इस तरह की कविताओं में जो सामाजिक सरोकार और इसके हित-अहित के प्रति चिंता झलकती है, उसी में उसकी मूल्यवत्ता भी छिपी है। यह चिंता जब एक कलात्मक रूप यानी एलीगरी का फार्म लेकर सामने आती है तो और अधिक प्रभावकारी हो जाती है। अपनी सामाजिक मूल्यवत्ता, संवेदन क्षमता और कलात्मक बोध के संतुलन में ही कोई कविता अच्छी बनती है। साही जी की पहले की आत्मपरक कविताओं में हम यह गुण नहीं पाते हैं। *साखी* की उत्तरार्द्ध की ज़्यादातर कविताओं में यह संतुलन है, यह मूल्यवत्ता है। 'सुख गुलाब' शीर्षक कविता में पूरी जटिल अभिव्यक्ति के बावजूद यह ज़ाहिर हो जाता है कि वाचक का लगाव उन मानव मूल्यों से है जो तानाशाही के ज़माने में समाज के भीतर दुर्लभ था, उन दिनों वादे ही वादे सुनने को मिलते थे और एक भी वादा पूरा होता नहीं दिखा। कविता में 'बच्चे बार बार पूछते है / कहां हैं सुख गुलाब / जो पठारों पर लगातार खिलते हैं?' वाचक उन्हें बहलाने की कोशिश करता है, मगर बच्चे नहीं मानते और अंत तक वाचक को भी सोचने को मजबूर करते है कि, 'कहां हैं वे सुख गुलाब जो वीरान पठारों पर खिलते हैं।'

साही जी के वाचक इसी प्रक्रिया में समाजीकृत होते हैं। इस प्रक्रिया को 'अस्पताल में' शीर्षक कविता में भी देखा जा सकता है, यह अस्पताल, दरअसल हमारा अपना समाज ही है :

साधो भाई  
इस अस्पताल में  
सब सो रहे हैं  
सहज समाधि की तरह  
सब कराह रहे हैं  
अनहद नाद की तरह।

यह एक गौरतलब बात है कि साही जी पहले की कविताओं में आदमी की तसवीरें बहुत ही कम पेश करते थे, मलामें के उपदेश से अभिभूत होकर वहां सृष्टि के प्रति नफ़रत का भाव था। मगर *साखी* के उत्तरार्द्ध तक पहुंचते पहुंचते साही जी अपनी

कविताओं में आदमी की तलाश शुरू कर देते हैं। मलार्मीय नुस्खे से अलग हट कर वे अपने को कबीर की परंपरा से जोड़ते हैं। 'राघव की तलाश में एक पीड़ित नगर में पांच दिन' कविता में इसी आम आदमी की तलाश है जिसे व्यवस्था ने निगल लिया है, जिसकी अपनी इयत्ता खतरे में पड़ गयी है। वाचक कहता है कि 'भीड़ के पीछे मैंने उसे देखा/ वह दो आदमियों के बीच घुस कर/ खोजने की कोशिश कर रहा था।' कविता के खंड-4 तक जाते जाते यह सिलसिला पूरा हो जाता है और वाचक पाता है कि राघव नदी में समा जाता है और देखता है कि वहां रह गयी 'नदी और लाश और पैरों के निशान'। इस आदमी में और खंड-5 में 'मचान से बंधी बकरी' में कोई अंतर नहीं है क्योंकि उसकी अस्मिता भी संकट में है : 'चीता उसकी दिशा में/ एक एक कदम बढ़ाता है।' मौजूदा व्यवस्था में मध्यवर्गीय बकरी पर छाया यह संकट कपोलकल्पित नहीं है क्योंकि एक एक कर उसके जनवादी अधिकार छीने जा रहे हैं, तानाशाही की काली छाया मंडरा रही है और दिक्कत यह है कि वह अपने पक्ष में ज़मीन तैयार कर रही है। ज़ोर जुल्म का चीता इस मध्यवर्गीय बकरी को खा जायेगा, यह चिंता साही जी को मानवीय सरोकार का कवि बनाती है। अपने वर्ग की इस नियति पर चिंतित हो उठना उनकी काव्ययात्रा का विकास दर्शाता है।

इसी तरह 'इसी शताब्दी के सामने' कविता में साही जी का वाचक 'बकरी न रह कर संघर्षशील मनय्य बन जाता है जो व्यवस्था से टक्कर लेता है :

इसी शताब्दी के सामने  
तुम जितने चालाक होते जाते हो  
उतना ही मैं लाजवाब होता जाता हूँ  
देखूँ पहले कौन चीखता है ।

वाचक शोषक शासक वर्ग से कहता है कि 'तुमने अड़दब और मात के हज़ारों नियमों की सूची तैयार कर ली है/ जिसके ज़रिये तुम मेरी हर चाल पर/ रोक लगा चुके हो। मगर फिर भी वाचक को विश्वास है कि अंतिम विजय शोषितों की ही होगी। इस तरह का आत्मविश्वास और इस तरह की दृष्टि साही जी की काव्य यात्रा की सर्वाधिक विकसित मंज़िल थी। मौजूदा व्यवस्था के इस चेहरे को पहचानने और शोषितजन की अंतिम विजय को देख पाने की यह दृष्टि साही जी को कैसे प्राप्त हुई? इसका उत्तर हमें 'संलाप में एक कविता' में मिल जाता है जिसमें वाचक अपने ही पुराने व्यक्तित्वांश से कहता है कि 'मैंने तुम्हारे असमंजस को निचोड़ दिया है/ अब तुम्हें साफ़ दिखेगा'। दरअसल आधुनिकतावादियों के लिए असमंजस, अकेलापन आदि चीजें ही प्यारी थीं। अज्ञेय ने तो एक कविता, 'सवेरे उठा तो धूप खिली थी'



में लिखा ही था :

...ये ही सब चीजें तो प्यार हैं

यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट, आतं अनुभव

...

साही जी का वाचक इस सोच को पीछे छोड़कर सत्य को जानने की दिशा में बढ़ता है जिससे उसके मन में मोहभंग की प्रक्रिया शुरू होती है। 'क्या करूं' कविता में मोहभंग की इस प्रक्रिया को बड़े ही कलात्मक ढंग से साही जी ने चित्रित किया है:

वे जो दूर से  
 रघुवीर के अमोघ वाण की तरह  
 समुद्र फलांगते  
 आकाशमार्ग से दहाड़ते  
 जाते दिखते थे  
 पास पहुंचने पर  
 अति लघु रूप हो कर सुरसा के मुंह में  
 प्रविष्ट हो गये  
 फिर बाहर नहीं आये  
 दास कबीर कहता है  
 भाई तुलसीदास  
 अब मैं क्या करूं।

अपनी अंतर्मुखता छोड़कर, सृष्टि के प्रति नफरत का भाव छोड़कर साही जी के वाचक दीनदुनिया के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं, तब एक अच्छे डेमोक्रेट यानी जनवादी की तरह शोषकवर्गीय राजनीति के प्रति आलोचनात्मक रुख ही नहीं, भर्त्सनात्मक रुख अखिनयार करते हैं। इस रुख की एक बेहतरीन मिसाल उनकी 'अब' कविता है। तानाशाही ताकतों के चरित्र को उजागर करने वाली ऐसी कम ही कविताएं इस दौर में मिलेंगी :

वे बाज़ार में लुकाठी लिये खड़े हैं  
 मेरा घर भी जलाते हैं  
 और मुझे साथ भी पकड़ ले जाते हैं  
 अब?  
 वे बाज़ार लूटते हैं

और रमैया की जोरू की इज्जत भी  
 नर भी। नारी भी। देवता भी। राक्षस भी  
 उन्होंने हाहाकार मचा दिया है  
 अब?

कबीर की साखियों के अस्तित्व को वर्तमानता प्रदान कर साही जी ने अपनी इस तरह की कविताओं में सिर्फ रूपगत नवीनता की ही तलाश नहीं की है, उन्हें संवेदना के स्तर पर भी विकसित किया है। उनका यह विकास कम महत्व का नहीं है और इसे अनदेखा करना उचित नहीं माना जा सकता। *साखी* की अंतिम कविता, 'प्रार्थना: गुरु कबीरदास के लिए' तक की उनकी काव्ययात्रा को देखने से यह पता लगता है कि शुरू के साही और अंत के साही अपने रचना-व्यक्तित्व में एक दूसरे से काफी भिन्न हैं, एक में उनका 'सेल्फ़' हावी था, दूसरे में 'एंटीसेल्फ़'। एक में निजबद्ध बड़बोलापन है तो दूसरे में समाज के साथ तदाकार हो जाने की जनवादी आकांक्षा, जो उन्हें हमारे युग और समाज से -- उसकी गरीबी उत्पीड़न को अपनी आंखों देखने से मिली थी। यह आकांक्षा ही उनके वाचक से कहलवा रही थी :

दो तो ऐसा कलेजा दो  
 कि अपमान, महत्वाकांक्षा और भूख  
 की गांठों में मरोड़े हुए  
 उन लोगों का माथा सहला सकूं  
 और इसका डर न लगे  
 फिर कोई हाथ ही काट खायेगा।  
 दो तो ऐसी निरीहता दो  
 कि इस दहाड़ते आतंक के बीच  
 फटकार कर सच बोल सकूं  
 और इसकी चिंता न हो  
 कि इस बहुमुखी युद्ध में  
 मेरे सच का इस्तेमाल  
 कौन अपने पक्ष में करेगा।

आज के वर्गविभाजित समाज में वैज्ञानिक 'सच' शोषक के हित में नहीं जाता, सच तो शोषितों के पक्ष में जाता है। ऐसा कोई भी रचनाकार जो समाज में वैज्ञानिक सचाई को सामने लाता है, वह अपनी घोषित विचारधारा में भले ही इस युग के अगुआ क्रांतिकारी वर्ग यानी सर्वहारा की राजनीति और उसके द्वारा स्थापित

समाजवादी व्यवस्था का पक्षधर न हो, वह विश्व के तमाम शोषितों और उन्हें मुक्त करनेवाली शक्तियों की अपनी वस्तुगत सचाई द्वारा मदद ही करता है। साही जी की कविता जहां जहां देश की अधिनायकवादी ताकतों से भिड़ती है जिन्हें उन्होंने 'दहाड़ते आतंक' से इंगित किया है, वहां वहां उनकी रचनाधर्मिता अपनी वस्तुगत भूमिका में जनवादी है और पूरे जनवादी आंदोलन के लिए, उसकी अहमियत है।

**-अभिप्राय सयुंक्तांक मई 1985**

## धूमिल की कविता : बीमार व्यवस्था की गवाह

हम दरवाज़ा न खोलें  
लेकिन शहर में  
किसी भी सड़क पर  
घूमने वाली बीमार रफ्तार  
इस अस्पताल के सदर गेट पर दस्तक देती है।

-- धूमिल की 'दस्तक' शीर्षक कविता से

धूमिल की एक कविता, 'उसके बारे में' का वाचक कहता है कि 'भलमनसाहत/ और मानसून के बीच खड़ा मैं/ आक्सीज़न का कर्जदार हूँ/ मैं अपनी व्यवस्थाओं में/ बीमार हूँ।' हिंदी की साठोत्तरी पीढ़ी की रचनधर्मिता का यह आत्मकथन एक ऐसे सामाजिक यथार्थ का गवाह है जिसे आज़ादी के बाद के तीव्र मोहभंग की अवस्था में जवान पीढ़ी ने पहचाना था। धूमिल की कविता भी हिंदुस्तान की उसी बीमार व्यवस्था की गवाह है। हिंदी का कवि ही नहीं, भारत के जनसाधारण भी आज़ादी के बाद के शासकों से क्षुब्ध हो कर व्यवस्था की कमज़ोरियों को देखने लग गये थे। राजनीतिक स्तर पर इस मोहभंग का यह असर हुआ कि देश के तमाम राज्यों में कांग्रेसी शासन की इज़ारेदारी 1967 के आम चुनावों में टूटी और संविद सरकारें बनीं। अवाम को एक विकल्प की तलाश थी, जहां यह विकल्प वामपंथी जनवादी ताकतें दे सकीं, वहां वहां उन्हें अवाम ने चुन लिया, अन्यत्र गैरकांग्रेसी गठबंधनों को सत्ता मिली। अवाम के इस क्रोध और विकल्प की खोज की अभिव्यक्ति हिंदी कविता में भी हुई। इस क्रोध की अभिव्यक्ति पहले सर्वनिषेधवादी रुझानों से हुई जिन्हें हिंदी साहित्य में 'अकविता' आदि के नामों से जाना गया। ये सर्वनिषेधवादी रुझान भी कवियों के उस अनुभववाद की उपज थे जिसे उन्होंने अपने आसपास के यथार्थ से अर्जित किया था। कांग्रेस की नीतियों ने अमीर ग़रीब के बीच खाई इतनी बढ़ा दी थी कि उससे मोहभंग होना ही था। पूंजीवादी रास्ते पर चल कर शासकवर्गों ने आज़ादी के समय के सुनहरे सपने चूर चूर कर डाले थे। अवाम को लगने लगा था कि इस रास्ते पर चल कर एक बीमार व्यवस्था ही कायम हो सकती है, शोषण, दमन और उत्पीड़न से मुक्ति नहीं मिल सकती। व्यवस्था के अंदरूनी संकट का प्रतिफलन कांग्रेस में विभाजन में हुआ। नयी कांग्रेस के नाम पर फिर से नये

सब्जबाग दिखाये गये, मगर नीतियां पूंजीवाद के हित में ही अपनायी गयीं।

हिंदी के रचनाकार इसी दौर में भी अपने देश, समाज, जनतंत्र और अपने जनगण के हालात को लेकर चिंतित दिखायी दिये। नये सिरे से समाज से रचनाकार की प्रतिबद्धता और वर्गीय नज़रिया अपनाए आदि के सवालोंने पर बहस शुरू हुई। उससे पहले के एक दौर में साहित्य की पूर्ण स्वायत्तता की अवधारणा और रूपवादी रुझानों का बोलबाला था, उनसे टकराव होने लगा। रचनाकारों को यह अहसास होने लगा कि किस तरह शोषणशासक वर्ग उन्हें मानसिक रूप से गुलाम बनाये रखने की चालें चलते आये हैं। इस गुलामी के अहसास से क्रुद्ध पीढ़ी में जो 'क्रांतिकारी' चेतना पैदा हुई, उसने निम्नमध्यवर्गीय सोच के दायरे में रहने के कारण 'अतिक्रांतिकारी' अभिव्यक्ति की शक्ति अख्तियार की। वाम राजनीति में इस 'अतिक्रांतिकारी' आक्रोश का विस्फोट नक्सलवाद के रूप में हुआ, इस वामपंथी भटकाव ने अपने उग्रवादी कम्युनिज़्म की विचारधारा के तहत व्यक्तिगत आतंक और हिंसा को 'क्रांति' के रूप में पेश किया जब कि लेनिन ने बहुत पहले इस तरह के भटकाव को 'बचकाना मर्ज' कहा था। निम्नमध्यवर्गीय मानसिकता को इस तरह की 'क्रांति' की बवधारणा ने काफ़ी आकर्षित किया। आठवें दशक के शुरू के दिनों की हिंदी कविता में इस आकर्षण को बखूबी देखा जा सकता है।

यह आकर्षण धूमिल की कविता में भी मौजूद है। उन्हें यह अहसास नहीं था कि उग्रवादी कम्युनिज़्म अंततः शोषकशासक वर्गों का ही हितसाधन कर रहा होता है। धूमिल अपने अनुभववाद के सहारे ही ये प्रभाव ग्रहण कर रहे थे और कविता में उन विचारों की ही अभिव्यक्ति हो रही थी। उनके संवेदनशील मन में शोषण पर आधारित व्यवस्था के बदलाव की तड़प जेनुइन थी, शोषकवर्गों के प्रति घृणा, उन वर्गों का हितसाधन करने वाली सामाजिक व्यवस्था के ख़ात्मे की बेकली, जल्द से जल्द देश की ग़रीब जनता को शोषणमुक्त देखने की तीव्र लालसा उन्हें अतिवामपंथ की ओर खींच रही थी। यह उनका कोई अपराध नहीं था। जब भी किसी देश और समाज में सर्वहारावर्ग अपनी वैज्ञानिक समाजवादी समझ से लैस हो कर मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों पर अमल करते हुए राजनीति में हस्तक्षेप करने में सक्षम होता है तो उसके भीतर दक्षिणपंथी और अतिवामपंथी दो अतिवादी तत्वों की गिरोहबंदी भी होने लगती है। भारत के वामपंथ में भी यह हुआ। उन दिनों सीपीआइ ने देश के शोषकशासक वर्गों का हितसाधन करने वाली कांग्रेस पार्टी के साथ गठजोड़ करके संशोधनवादी रास्ता अख्तियार किया तो नक्सलियों ने अतिवामपंथी भटकाव का प्रतिनिधित्व करके सर्वहारावर्ग के अगुआ दस्ते को अपने बचकानेपन से नुक़सान पहुंचा कर शोषकवर्गों का हितसाधन किया। 1971 के चुनावों में दोनों ही अतिवादी

धड़ों ने सीपीआइ-एम के नेतृत्ववाले वाममोर्चे के खिलाफ इंदिरा कांग्रेस की मदद की।

अन्य देशों का इतिहास गवाह है कि वहां भी इसी तरह के दो अतिवादी रुझान उभरते रहे और मुख्य क्रांतिकारी दस्ते को नुकसान पहुंचाते रहे जिनसे सही वैज्ञानिक समझ रखने वाले हिस्से को तीव्र विचारधारात्मक संघर्ष चलाना पड़ा। निम्नमध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को अतिवामपंथी वाग्जाल जल्दी आकर्षित कर लेता है, धूमिल के साथ भी ऐसा ही हुआ। उनका काव्यजीवन साठोत्तरी दौर के उन बरसों में हुआ जब सर्वनिषेधवादी आंदोलन कविता पर हावी थे, इसलिए स्वभावतया उसकी विचारधारात्मक परिणति नक्सलवाद के प्रति उनके भावात्मक लगाव में हुई। धूमिल की चेतना में समय के साथ बदलाव आते रहे, इससे उम्मीद बनती थी कि वे अपने अध्ययन और अनुभव से आगे चल कर अतिवामपंथी रुझानों से भी मुक्त हो कर सामाजिक बदलाव के वैज्ञानिक विकल्प की ओर बढ़ते। उन्होंने एक जगह लिखा था कि 'समय के अनुसार चलना नहीं, बल्कि समय की मांग के अनुसार चलना आवश्यक है।' उनके भावी विकास को उनकी असमय मृत्यु ने रोक दिया।

धूमिल की कविता का मुख्य स्वर व्यवस्था-विरोध का है, वर्गीय नज़रिये से यथार्थ न देख पाने की सीमा के कारण उनकी कविता सारी बुराइयों की जड़ इस पूंजीवादी जनतंत्र में देखती है, इसलिए उनका हमला इसी जनतंत्र पर है जिसे नक्सलवादियों ने 'बंदरिया का तमाशा' कह कर पहले ही त्याज्य घोषित कर रखा था। संसदीय लोकतंत्र के तहत जो अमानवीय व्यवस्था शोषकवर्गों ने कायम कर रखी है, धूमिल की कविता उसकी असलियत खोलती है। चूंकि इस संसद में शुरू से ही यह प्रणाली बना ली गयी है जिससे जनता को शोषकवर्गों के नुमाइंदों को ही चुनना पड़ता है, इसलिए इसकी रीतिनीति शोषितों के पक्ष में नहीं जाती, मगर वर्गसंघर्ष का एक अखाड़ा तो वह है ही, इसलिए कम्युनिस्ट उसे अछूत मानकर उससे दूर रहेंगे तो जनविरोधी शक्तियों के लिए पूरा मैदान छोड़ देंगे, यह सही नहीं होगा। संसद से सड़क तक सभी जगह संघर्ष करना ही सही नीति होगी। धूमिल की कविता इस यथार्थवादी समझ का इज़हार नहीं करती। यह उसकी सीमा है। इस तरह अतिवामपंथी लाइन एक तरह से उन शोषकवर्गों के हित में ही जाती है जो खुद इस संसद का खात्मा करना चाहते हैं जैसा कि हिटलर ने किया था, आखिर भारत में भी कांग्रेस ने एमजैसी लगाकर वही किया जो नक्सलवादी चाहते थे, बंदरिया का तमाशा कर दिया खत्म, अब खुश रहो, कामरेड!

शोषण पर आधारित इस व्यवस्था का अंत संसद या पूंजीवादी जनतंत्र के खात्मे से नहीं, वर्गों के नये शक्ति-संतुलन से सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में सामाजिक क्रांति से ही संभव हो सकता है। वर्गों की ऐसी कृतारबंदी हर स्तर पर शोषितवर्गों

के संगठित होने और शोषकों के बारे में वर्गचेतना फैलाने से लंबे दौर में हो सकती है, इसका कोई शार्टकट नहीं। निम्नमध्यवर्गीय मानसिकता सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई तुरत-फुरत वाले समाधान का स्वप्न दिखाने वाली शक्ति की ओर आसानी से मुड़ जाती है। धूमिल के समकालीन कई कवियों में ही नहीं, समाज के शोषितों की बड़ी तादाद में लोगों में यह प्रवृत्ति इस दौर में देखी जा सकती है जिसे आसानी से जयप्रकाश नारायण की 'संपूर्ण क्रांति' ने आकर्षित कर लिया। वाम शक्तियां बुरी तरह विभाजित होने से यह काम नहीं कर सकीं।

धूमिल की कविता में वही निम्नमध्यवर्गीय छटपटाहट है। उन्हें यह कोफ्त होती थी कि आखिर यह जनता इस तमाम गंदगी को क्यों सहन कर रही है। उनकी यह वेदना एक ईमानदार कलाकार की वेदना है जिसे उस दौर के बहुसंख्यक कवियों में देखा जा सकता है। उन्हें लगता है कि इस व्यवस्था को सहन करना 'आदमी' के भीतर का ही मैल है :

पूरे समाज की सीवन उधेड़ते हुए  
मैंने आदमी के भीतर की मैल  
देख ली थी।

उनकी 'पटकथा' एक मशहूर कविता है जिसका वाचक कहता है कि 'अंधकार में/ डूबी हुई पृथ्वी / पता नहीं किस अनहोनी की प्रतीक्षा में / इस भीषण सड़ांध को सह रही है...'. वाचक समझता है कि इस देश के लोग इस व्यवस्था में संवेदनहीन हो गये हैं :

भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है  
संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है  
फिर भी वे अपने हैं  
अपने हैं  
अपने हैं  
जीवित भविष्य के सुंदरतम सपने हैं

अपने लोगों के प्रति घृणा और ममत्व का यह द्वंद्व धूमिल की कविता में तलखी और विसंगति पैदा करता है। यह अपनत्व ही उनकी कविता को सकारात्मक मूल्य प्रदान करता है। कल सुनना मुझे के संपादनकर्ता राजशेखर ने अपनी संपादकीय टिप्पणी में धूमिल के इस अंतर्द्वंद्व को ठीक ही पहचाना है : 'एक जिम्मेदार कलाकार की

तरह, वह समाज की पशु प्रवृत्तियों पर सांघातिक चोट करता है और कविता की भाषा में, अपनी सहज आत्मीयता से इन छद्मवेशी आचरणों के पीछे छिपे सामाजिक तथ्यों का उद्घाटन करता है किंतु अपनी सामाजिक विवशताओं और संस्कारगत-मनोगतवादी अवधारणाओं के कारण, वह अंतर्विरोधों की वर्गीय अंतर्वस्तु को अमूर्त छोड़ देता है। उसका यह भाववादी अवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व उसकी अधिकांश कविताओं में स्पष्ट है।

धूमिल अकविता और उन दिनों नये सिरे से विकसित हो रही जनवादी कविता के बीच कवि हैं। अकविता में व्यवस्था में निहित जानवरपन और मूल्यहीनता को रूपायित किया गया था, उस बोध की अंतर्वस्तु भी धूमिल की कविता में झलकती है। वे भी अकवि जगदीश चतुर्वेदी की तर्ज पर एक कह देते हैं कि 'हर लड़की / तीसरे गर्भपात के बाद / धर्मशाला हो जाती है' या 'क्रांति/ यहां के असंग लोगों के लिए/ किसी अबोध बच्चे के / हाथों की जूजी है।' भाषिक खिलवाड़ के चक्कर में वे भी अक्सर यत्रतत्र अश्लील शब्दों का प्रयोग कर बैठते हैं और विकृत सौंदर्यबोध के अनेक बिंबों का सृजन करते हैं। मगर इस नकारात्मक पहलू के अलावा, अपनी उनकी ईमानदार जनप्रतिबद्धता उन्हें जनवादी काव्यधारा से जोड़ती है, भले ही वे अपनी निम्नमध्यवर्गीय विचारधारात्मक कमजोरी के चलते सर्वहारावर्गविरोधी 'अतिक्रांतिकारी' रूमानियत के शिकार रहे हों। उनकी यह जनप्रतिबद्धता कविता में नया तेवर लाती है, यह कविता उनके अपने समय का प्रतिबिंब बन जाती है। इस प्रतिबिंब में यथार्थ कभी अपने नंगेपन के साथ और कभी विकृत हो कर सामने आता है, मगर है तो वह हमारे समय और समाज का ही यथार्थ। इसीलिए धूमिल की कविता अपनी समाजसापेक्ष सीमाओं और शक्तियों का दस्तावेज़ है। उनकी काव्यसंवेदना में छिपी सामाजिक परिवर्तन की तड़प उन्हें आलोचनात्मक यथार्थवाद की ओर ले जाती है, इसीलिए वह जनवादी साहित्य आंदोलन का एक अविच्छिन्न हिस्सा हो जाती है।

धूमिल की कविता में जो आलोचनात्मक स्तर की प्रखरता है, जो पैनापन है, व्यंग्य की जो मार है, वह हमारे समय की हिंदी कविता की एक उपलब्धि है। धूमिल को इस कौशल के लिए हमेशा याद किया जायेगा। मंजु अग्रवाल ने ठीक ही कहा है :

धूमिल की कविताओं में आक्रोश के तीखे स्वर के साथ साथ कटु यथार्थबोध  
 । भी विद्यमान है, पर कवि का आवेशित रूप क्षणिक वेग नहीं है, वह तो  
 'समझ' एवं एहसास से उत्पन्न हुआ है।'

(धूमिल काव्ययात्रा, पृ. 89)

धूमिल ने जिस कटु यथार्थ को अपनी कविता में व्यक्त किया वह उनके बाद की पीढ़ी की रचनाशीलता में भी पूरे आवेग के साथ चित्रित हुआ। अंतर यह है कि



जनवादी पीढ़ी के रचनाकारों में से ज्यादातर समाज के विश्लेषण के लिए वैज्ञानिक विचारधारात्मक ज्ञान से लैस हैं, इसलिए यथार्थ को वर्गीय नज़रिये से देख रहे हैं, रूमानी आक्रोश से नहीं। इसलिए उसके लिए एक संगठित शक्ति का हिस्सा बनने का सामाजिक दायित्वबोध भी ज़रूरी हो गया है। यह पीढ़ी यह जानती है कि धूमिल के अधूरे सपने को पूरा करने के लिए यानी बेहतर समाज व्यवस्था की रचना के लिए जनप्रतिबद्ध व्यापक जनआंदोलन की रहनुमाई करने वाले सर्वहारावर्ग के प्रयासों का सहयात्री बनने की रचनाकारों को ज़रूरत है, शब्द और कर्म का यह ईमानदार तकाज़ा है।

**(संभावित रचनाकाल :1983, कानपुर की एक पत्रिका में प्रकाशित)**

## समकालीन जनवादी कविता : एक विकसती धारा

मेरे हृदय के रक्त-कमल में कभी  
तूफ़ान सा उठता है .  
मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी ने बांध तोड़ दिया हो  
और रुका हुआ जल बड़े वेग से  
आगे बढ़ना चाहता हो .

—काजी नज़रुल इस्लाम

हमारे देश की पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था का खोखलापन जैसे ही जैसे उजागर होता जा रहा है वैसे ही वैसे इस व्यवस्था के प्रति एक नफरत का भाव भी पैदा होता जा रहा है। सन साठ के बाद के वर्षों में इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना उस समय के काव्य-आंदोलनों में बखूबी देखा जा सकती है। उसी भावना की अभिव्यक्ति राजनीति में 1967 में कांग्रेस की कई राज्यों में हुई चुनावी हार में हुई थी। राजनीति में सर्वहारावर्ग की प्रभावकारी भूमिका भी इसी दौर में शुरू हुई। सर्वहारावर्ग दो अतिवादी तत्वों - दक्षिणपंथी संशोधनवादियों और वापपंथी दुस्साहसवादियों - के छंट जाने पर सही राजनीतिक भूमिका निभाने के लिए अपने नये प्रोग्राम के साथ जैसे ही आगे आया उस पर शोषक-शासक वर्गों ने और भटकावग्रस्त अतिवादियों ने हमले शुरू कर दिये। इस अग्नि-दीक्षा से सर्वहारावर्ग विचलित नहीं हुआ बल्कि उसने गुण और मात्रा दोनों ही स्तरों पर अपनी ताकत में इज़ाफ़ा किया। इसका सबूत यह है कि 1971 तक आते आते वह इस स्थिति में था कि तमाम देश में 'इंदिरा लहर' के बावजूद उसकी अपनी पार्टी जहां मज़बूत थी वहां की जनता को शोषकों की पार्टियां उल्लू बनाने में कामयाब न हो सकीं। 1971 के लोकसभा के चुनावों में सीपीआइ (एम) का प्रतिनिधित्व विपक्ष की पार्टियों में सबसे ज़्यादा था जबकि वह देश भर में और खासकर प. बंगाल में भयंकर दमन का शिकार हुई थी। इस काल के ही दौरान हिंदी का बुद्धिजीवी भी इतना समझने लगा था कि इस देश की समस्याओं का हल पूंजीवादी विकास के रास्ते पर समाज को धकेलने से नहीं हो सकता। चेतना के इसी विकास के साथ हिंदी में समकालीन जनवादी-साहित्य का वह बीज जो प्रगतिवाद के बाद अनेक कारणों से फलफूल नहीं पाया था फिर से

सही ज़मीन पाकर नयी कोंपलों के साथ बढ़ने लगा।

समकालीन जनवादी कविता एक सशक्त धारा के रूप अब वजूद में आ चुकी है। जनवादी कविता के लिए ज़मीन तैयार करने में उस सांस्कृतिक-साहित्यिक अवरोध ने भी योगदान दिया है जो साठोत्तरी कवियों में पतनशील और सड़ांध के रूप में व्यक्त हो रहा था। यों तो कविता की दुर्गति नयी कविता के अंदर के प्रतिक्रियावादी अज्ञेय-भारती-जगदीश गुप्त एंड कंपनी ने ही कर दी थी मगर उसका जनाज़ा 'अकवियों' ने और 'ताज़ा कवियों' ने निकाल दिया था। जहां रूपवादी नये कवि रूप निहारते निहारते कांच हो गये थे वहां अकवि और ताज़ा कवि 'ध ध ध ध ध...' या 'मु मु मु मु मु...' करके कविता को हकलाहट में बदल रहे थे। रूपवादी रुझानों की अंतिम परिणति यही होनी थी। हिंदी के उभरते हुए साहित्यकारों ने अपनी जनवादी आशाओं-आकांक्षाओं को इस व्यवस्था में फलीभूत होने का सपना छोड़ दिया। उन्हें ज्ञात हो गया कि आज सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक अधःपतन से समाज को बचाने का एक ही वैज्ञानिक रास्ता है जिसे विश्व के सभी चिंताशील बुद्धिजीवियों ने अपनाया है, वह है पूंजीवाद के संहार और सबकी मुक्ति के नये युग को लाने वाला सर्वहारा वर्ग का रास्ता है। हमारे देश के उभरते युवा रचनाकारों ने भी इसीलिए मार्क्सवादी दर्शन-विज्ञान और विश्वदृष्टि को अपनाया जिससे कि वे इस समाज को प्रगतिशील दिशा देने वाली और उसे विकास की नयी मंज़िल की ओर ले जाने वाली सर्वहारा शक्तियों को सहयोग दे सकें। हमारे समाज को देशी-विदेशी धन्नासेठ सड़ांध की ओर धकेल रहे हैं। जनवादी कविता अपने समाज के शोषक भेड़ियों से मुक्ति के नेक संवेदनात्मक उद्देश्य से परिचालित है। यह उद्देश्य ही उसकी शक्ति है।

इसी नेक उद्देश्य से 1967 के आसपास लघु-पत्रिकाओं का भी एक नया दौर शुरू हुआ। आज़ादी की लड़ाई के दौर में जिस तरह कवि, कलाकारों, पत्रकारों ने शोषक-सत्ता के विरुद्ध अपनी कलम उठायी थी, उसी तरह आज की शोषक-सत्ता के विरुद्ध भी जनवादी कवि कलाकार आगे आये। नगरों, कस्बों, गांवों की प्रतिभाएं इन पत्रिकाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाने लगीं। इन्होंने मिलकर धन्नासेठों की रंगीन पत्रिकाओं के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा महत्व प्राप्त कर लिया। जनवादी कविता इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से पुष्ट हुई।

इस दौर की जनवादी कविता की मुख्य धार यह है कि वह अपार जन गण की पक्षधर है। वह अतीत के उन काव्य-आंदोलनों से भिन्न है जिन्हें सिर्फ अपनी 'अस्मिता की खोज' के उद्देश्य से कुछ व्यक्तिवादियों ने शुरू किया था, उनकी ज़मीन भी सामाजिक आर्थिक कारणों ने ही तैयार की थी। इस दौर की जनवादी

कविता किसी एक व्यक्ति या दादा की पिछलग्गू नहीं है, बल्कि वह शोषित-उत्पीड़ित जनता की हमसफ़र है, इसीलिए वह सैकड़ों नये पुराने रचनाकारों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही है। चूँकि वह अपने को संघर्षशील मानव समाज की युग संघर्षी संस्कृति और परंपरा यानी अपने अतीत से और उस भविष्य से भी जोड़ती है जिसे किसी न किसी दिन हमारे देश की संघर्षचेता जनता अपने को शोषणमुक्त करने के लिए जरूर लायगी। इसीलिए वह रूपवादी आंदोलनों की तरह पानी का बुलबुला नहीं है, वह एक अजस्र धारा का हिस्सा है जिसका अपना एक अतीत है, वर्तमान है और भविष्य भी। इस धारा में इस समय हमारे समाज का सर्वाधिक क्रांतिकारी वर्ग - सर्वहारा, उसकी राजनीति, उसकी विचारधारा, उसके जन-संगठन और उसके हमदर्द बुद्धिजीवी, रचनाकार, रंगकर्मी तो योग दे ही रहे हैं; जनता के व्यापक हिस्सों से आये अनेक ऐसे कवि और कलाकार भी अपना योगदान दे रहे हैं जो भले ही सर्वहारा की सही राजनीति व विचारधारा को आत्मसात नहीं कर पाये हैं, मगर सच्चाई को खुली आंखों देख रहे हैं और उसे बिना हिचक वाणी दे रहे हैं। वे शोषकों के हाथों बिकने को तैयार नहीं। दूसरी ओर, धन्नासेठों की तानाशाही की राजनीति के चाकर भी हैं जो श्रीहीन हो कर भी श्रीकांत बनना चाहते हैं, ऐसे लोग साहित्यिक आत्महत्या कर रहे होते हैं। मरणशील व्यवस्था से चिपक कर भला कौन आत्मावान रचनकार अपनी रचना-दीप्ति खोना चाहेगा, वह 'सुकांत' और 'श्रीकांत' बनने के फ़र्क को समझेगा, वह समझ रहा है।

हमारे समाज की प्रगतिकामी परंपरा की इस मौजूदा साहित्यिक धारा में जहां उभरते जनवादी कवि एक महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं, वहां इस धारा को पुष्ट करने में पुराने प्रगतिवादी कवि जैसे नागार्जुन, त्रिलोचन, शील, केदारनाथ अग्रवाल आदि और नयी कविता के दौर के कवि जैसे शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय तथा अकविता के दौर के कई कवि जैसे राजीव सक्सेना, मुद्राराक्षस, रमेश गौड़, इब्बार रब्बी, चंद्रकांत देवताले आदि भी रचनात्मक स्तर पर सक्रिय भूमिका अदा कर रहे हैं। जहां पिछले दिनों नये उभरते हुए कवियों की सैकड़ों कविताएं व अनेक महत्वपूर्ण संकलन प्रकाश में आये हैं, वहीं पुराने कवियों की रचनाएं और नये संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। ये घटनाएं हमारे साहित्य में एक बदलती हुई सौंदर्य चेतना का संकेत देती हैं। जनवादी कविता की इन तीन पीढ़ियों की पावन त्रिवेणी भारत की शोषित-उत्पीड़ित जनता की आशाओं व आकांक्षाओं को व्यक्त कर रही है।

आज का यह नया जनवादी साहित्यिक उभार सिर्फ कविता में ही नहीं, सब विधाओं में आया है, इस उभार ने जनवादी आलोचक कलाकार, नाटकग्रुप और

कहानीकार भी हिंदी साहित्य को दिये हैं। इस तरह एक पूरा साहित्यिक-सांस्कृतिक आंदोलन हिंदी में अपनी अभूतपूर्व रचना-क्षमता के साथ मौजूद है। यह आंदोलन संघर्षशील जनता के मुक्तिआंदोलन का एक हिस्सा है। इसीलिए इसकी व्यापकता इतनी ज़्यादा है कि इसे एक या दो रचनाकारों के नामों के उल्लेख से नहीं, जन-मन की उस क्रांतिकारी चेतना के अहसास से ही समझा सकता है जो बड़ी बेचैनी के साथ शोषण से इस समाज की मुक्ति के रास्ते तलाश कर रही थी।

जनवादी कविता किसी व्यक्ति विशेष को अधिनायक मानने से इंकार करती है, वह तो देश के करोड़ों मेहनतकश अवाम के साथ है, वह दुनिया भर की संघर्षशील मानवधारा का एक हिस्सा है। इसीलिए उसमें व्यक्तिवादी कलाबाज़ी की कोई जगह नहीं है जो पिछले कुछ काव्याआंदोलनों में प्रियंवद दादाओं ने अपनी पहचान बनाने के लिए शुरू की थी। अब किसी भी 'केशकंबली गुफागेह' या 'कनु' की पूजा नहीं हो सकती भले ही ऐसे लोग अब 'पांचवां सप्तक' भी बनायें। समय की ज़रूरत से दूर और जनगण से विमुख साहित्य का हथकिया होता है, यह इस दौर में सबके सामने उजागर हो गया है। जन से विमुख *नया प्रतीक* या *चौथा सप्तक* या घोषित 'इनाम' बरसाती मेंढक की टर्-टर् से ज़्यादा और कुछ भी साबित नहीं हुए। जब इस दशक के शुरू-शुरू में जनवादी साहित्य का यह उभार अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही था, शोषक वर्गों से जुड़े इलाजीवी साहित्यकारों ने इस तरह की योजनाओं से इसे खत्म करना चाहा था; मगर उनके प्रयास अनदेखे ही धूल चाट गये। हाल ही में इधर कुछ सरकारी प्रयास भी हुए। ये प्रयास जनवादी आंदोलन का नेतृत्व धन और साधन, तिकड़म और गुरुडम से अपने हाथों में लेना चाहते हैं क्योंकि शायद अब इस आंदोलन की उपेक्षा करके इसे नहीं तोड़ा जा सकता, इसके रचनाकारों को तोड़कर ही इस पर प्रहार हो सकता है। तानाशाही की ताकतों की वापसी के साथ शासक-शोषक वर्गों के एक अदना चाकर को लगा कि अब 'कविता की वापसी' हुई है। कविता न हुई किसी की भैंस हो गयी जो कहीं घास चरने चल गयी थी, और उसके तई उस भैंस की 'वापसी' हुई। सब जानते हैं कि जनवादी साहित्य का आंदोलन अपनी पूरी रचना-क्षमता के साथ हर विधा में पिछले दस साल से प्रकट हो रहा है। यह सुख सवेरा सिर्फ एक मुर्गे की बांग से नहीं हो रहा है; इसकी किरणों में उन सभी जनवादी रचनाकारों और संघर्षशील जनों का प्रकाश शामिल है जो शोषणविहीन समाज का एक सपना संजोये हैं और मौजूदा पूंजीवादी-सामंती शोषण व्यवस्था से दुखी हैं। इस व्यवस्था के पैरोकारों द्वारा इस आंदोलन को तोड़ने की यह चालाकी नाकाम हो चुकी है। एक दो सरकारी पत्रिकाएं, सैकड़ों लघुपत्रिकाओं द्वारा चलाये जा रहे इस आंदोलन का भला क्या मुकाबला करेंगी? इस तरह की

शोशेबाज़ी जैसे आयी वैसे ही उसकी वापसी हो गयी, अब उसका कोई नामलेवा भी नहीं।

सामाजिक सरोकार की रचनाएं रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध किसी स्वामिभक्त सरकारी चाकर/बाबू की मुखपेक्षी नहीं है। यद्यपि इस अक्षयवट की कोपलें तानाशाही के वफ़ादार बाबू ने उसी तरह तोड़नी चाही थीं जिस तरह *तार सप्तक* के आयोजन को अपने हाथ में लेकर 'बूढ़े गिद्ध' ने कभी तोड़ने की कोशिश की थी। उस समय कुछ एक कोपलें टूट भी गयी थी क्योंकि उसके लिए सामाजिक-राजनीतिक आधार मौजूद थे, आज वे आधार नहीं हैं, बल्कि आज तो वाम-जनवादी शक्तियां टूटने की जगह जुड़ने और संगठित होने की प्रक्रिया में हैं। अतः आज शोषक वर्गों की चाल आसानी से कामयाब नहीं हो सकती।

जनवादी कविता तेज़ी से खुद को 'असर्ट' कर रही है। यह एक सच्चाई बन रही है जो सर पर चढ़कर बोलेगी। शोषकों, उत्पीड़कों से समाज की मुक्ति का संवेदनात्मक उद्देश्य उसकी आत्मा है, इसीलिए वह दिनोंदिन मज़बूत होगी; वह भावी समाज की अक्षय निधि बनेगी - कबीर की वाणी की तरह।

कंक पत्रिका के इसी खंड में प्रकाशित की जा रही कविताएं भी देश भर में लिखी जा रही जनवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्य को अपने में छिपाये हुए हैं; वे भी देश के गरीबों, मजदूरों और किसानों की व्यथा-कथा कहती हैं। गोरख पांडेय के 'सोहनी का गीत' की वाचिका की व्यथा समूची मेहनतकश जनता की व्यथा है। किसान जनता मेहनत करती है जिससे 'खेतों में सोना बरसे'; मगर वह सोना उसका नहीं होता; उसका आंचल फटा है और उस 'फटे आंचल से / रास्ते में गिर जाता है / मजूरी का अनाज।' उन्हे भरपेट अन्न नहीं, चाबुक की मार मिलती है; उनका ही दमन होता है। लेकिन यह सब अनंत काल तक चलने वाला नहीं है; श्याम कश्यप की एक कविता में यह विश्वास ही अभिव्यक्ति पाता है; 'आज नहीं तो कल यहाँ फूल खिलेंगे/उड़ेगी सुगंध चारों और दिगंत में।'

राजेंद्र शर्मा की कविता, 'हम' भारतीय जनमानस के भीतर धीरे-धीरे आ रहे बदलाव का संकेत देती है। शोषक-शासक वर्ग लगातार अवाम को तानाशाही की अंधेरी सुरंग में धकेलने की कोशिश में लगे हैं, मगर वे अब पहले की तरह अवाम की डरा नहीं पायेंगे; 'सिर्फ पहली बार/सहमे थे हम/सुरंग में धकेले जाते हुए/ अब ये चूहे/ अंधेरे के बावजूद/ हमें दारा पाने में नाकामयाब हो गये हैं।'

आज कविता प्रकृति से मनुष्य की और से जा रही है, प्रकृति उसके सुख दुख की साथी बन रही है। कभी जनवादी कविता को 'पतंग उड़ाते हुए बच्चे' मोहते हैं, जो स्वप्निल श्रीवास्तव की कविता में 'आकाश को / जीतने आ रहे हैं'; तो कभी

जनवादी कविता निर्मम होकर आदमी और आदमी के मुखोटे को नंगा करती है। नरेंद्र जैन की नाटकीय कविताएं, 'मुखौटा-1' और 'मुखौटा-2' इसी छद्म पर प्रहार करती हैं। जनवादी कविता में जहां प्रखर आलोचनात्मक स्वर फूटते हैं, वहीं अपनों के प्रति उसमें करुणा भी जागती है। राजेंद्र धोड़पकर की कविता, 'घर' इसी मानवीय, संवेदना को उभरती है। जनवादी कविता की इस करुणा और कठोरता के एंटीथीसिस को अजित चौधरी ने अपनी रचना 'पत्थर बोले' में बड़े कलात्मक ढंग से सजाया है :

पत्थर बोले / अपनी पूरी नमी से  
जुबान तर करते हुए...  
ज्वालामुखी के बेटे / पहाड़ों के हिस्से  
बोले; नदियों की करुणा / झरनों की पुकार।

आज की जनवादी कविता शोषकों द्वारा किये जा रहे दमन-उत्पीड़न की तस्वीर पेश कर रही है। श्रेणिक वाफना की कविता, 'खबर' इसी उत्पीड़न की तस्वीर पेश करती है। 'सुबह तलक / जलकर राख हो जाती हैं / उनकी झुगगी-झोंपड़ियां/ रह जाते हैं केवल/ स्मृति अवशेष / महलों के नीचे पाये गये कई शव।' मगर 'झोंपड़ियों' और 'महलों' के बीच का वर्ग संघर्ष चल रहा है, और इस युद्ध में अंतिम विजय जन की ही होगी। श्रेणिक वाफना की कविता इसीलिए कहती है कि इस विजय के लिए 'गोलबंद होकर/ लड़नी होंगी लड़ाइयां'।

समकालीन जनवादी कविता जिंदगी और समाज के बारीक रिश्तों की तस्वीर पेश कर रही है। इस दशक, यानी 1970 के बाद के शुरू के दिनों में जब मौजूदा दौर की इस कविता की कोंपलें फूटी थीं, तब उसमें इस शोषण-व्यवस्था पर सीधा सीधा प्रहार होता था, इस तीखी बयानी में बदलाव तब आया जब एमर्जेसी में तानाशाही की ताकतों ने हर शब्द पर सेंसर बैठा दिया; कविता को भी अपनी रचना प्रक्रिया उसी तरह बदलनी पड़ी जैसे कि संघर्षशील राजनीति को अपनी कार्य-प्रक्रिया बदलनी पड़ी थी। जनवादी कविता में सांकेतिकता, बिंबधर्मिता और प्रतीकात्मकता आने लगी। अब सार्थक कविता पहले वक्तव्य नहीं होती थी। प्रमाण के लिए उन दिनों प्रकाशित तानाशाही विरोधी लघु पत्रिकाओं के अंकों को देखा जा सकता है।

अभिव्यक्ति के इस तरीके ने एक लाभ भी पहुंचाया; इससे जनवादी कविता में आ रही फार्मूलेबाज़ी (जनवादी कहानी जिसकी अभी भी शिकार है) रूढ़ होने से बच गयी। जनवादी कविता का फार्म का कच्चापन खत्म होने लगा और वह एक नया सौंदर्य प्राप्त करने लगी। आज की जनवादी कविता में आयी परिपक्वता देखकर

ही एक अफसर साहित्यकार को यह लगने लगा कि यह मौका है, इस आंदोलन को या तो विघटित किया जा सकता है (क्योंकि वह असंगठित तो है ही) या फिर उसे सौंदर्यवाद की ओर मोड़ा जा सकता है। जनवादी कविता अगर मध्यवर्गीय सौंदर्यबोध की ओर भटक गयी तो उसका अपना उद्देश्य ही विफल हो जायेगा और शोषक वर्ग धड़ल्ले से ऐसे कवियों को बख्शीश देगा जो सर्वहारा वर्ग की ओर उन्मुख न होकर नये सरकारी रजवाड़ों के पीछे लग लेंगे। जनवादी कवियों को शोषक-शासक वर्गों की खरीद-फ़रोख़्त की इस नयी चाल से भी सावधान रहना होगा। जनवादी कविता का सौंदर्य जनप्रिय होने में है शुद्ध सौंदर्यवादी होने में नहीं। जनवादी कवियों को सौंदर्य के लिए सौंदर्यवादी पूर्वग्रह से मुक्त रहना है अन्यथा बुर्जुआ हथकंडेबाज़ किसी भी राजेश जोशी या अरुण कमल को 'पेड़' या 'चिड़िया' या 'फूलपत्ती' या 'घास पतवार' बना देंगे और सच यह है कि 'मेटामोर्फ़ोसिस' उन्हें 'तिलचट्टा' बनाने के लिए ही रहा है। जनवादी कविता के उगते हुए अंगारों को पानी के छीटे मार कर वे उन्हें धूल का फूल बनाना चाहते हैं, जनवादी कवियों को मुक्तिबोध और गोर्की का वह सवाल कभी नहीं भूलना होगा- 'किस और हो तुम?'

सौंदर्यवाद के खिलाफ़ संघर्ष करने का हमारा यह अर्थ नहीं है कि हम नये सौंदर्य को विकसित होने देने में बाधा बनेंगे; हम जनवादी कविता की सौंदर्यात्मक कमज़ोरियों की मित्रभाव से आलोचना भी करेंगे। दुश्मनों द्वारा की गयी सौंदर्यवादी तारीफ़ जहां घातक सिद्ध हो सकती है, वहीं मित्रों द्वारा की गयी आलोचना और आत्मालोचना किसी भी रचनाकार को विकास की ओर ले जाती है। बड़े रचनाकारों के विकास का यही राज़ रहा है। आइए, हम अब अपनी कमज़ोरियों पर एक नज़र डालें।

जहां समकालीन कविता धीरे-धीरे विकसित हो रही है वहीं कुछ ऐसी कमियों से मुक्त भी नहीं हो पा रही है जो उसे विरासत में मिली है। मैंने 'युवा-2' (मार्च 1977) में अपने एक लेख में और डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल ने *युग-परिबोध* (वर्ष 2, अंक-1) में जनवादी कविता की कुछ कमज़ोरियों की चर्चा की थी। इनमें से एक कमज़ोरी यह है कि नयी कविता और अकविता के फ़ार्म के जड़ीभूत रिफ़्लेक्स अभी हमारे कवियों में घर किये हुए हैं जिनसे उबरना ज़रूरी है। उदाहरण के लिए *कंक* पत्रिका के इसी अंक के कविता खंड में प्रकाशित कविताएं ही यह सबूत देती हैं कि कवि पुराने रूढ़ फ़ार्म को नहीं छोड़ पा रहे हैं। कोई भी कविता किसी नयी लय या नयी भंगिमा को प्रस्तुत नहीं करती, सभी लगभग उसी फ़ार्म में हैं जो प्रयोगवाद से हिंदी में चला आ रहा है।

इसके अलावा कहीं तो अकविता से भी ज़्यादा फूहड़ प्रयोग हो जाते हैं।



उदाहरण के लिए इसी खंड में श्याम कश्यप की 'सृजन' शीर्षक कविता के दूसरे हिस्से को गौर से देखें, 'पुलटस के नीचे / जैसे पकता है घाव / धीरे धीरे / लघु की आंच में सिकता हुआ।' सर्वहारावर्ग से कविता की पहली पंक्तियों में पूछा जा रहा है कि 'क्या गढ़ रहे हो / ओ लुहार।' और उसका जवाब वह है जो नये प्रयोग के चक्कर में 'घाव' के बिंब द्वारा ऊपर की पंक्तियों में कवि ने दिया है। अगर सर्वहारा मवादभरा घाव ही रच रहा है तो कोई भी पाठक ऐसे सौंदर्य को दूर से ही नमस्कार कर लेगा और कहेगा, ऐसा सौंदर्यबोध जनवादियों को ही मुबारक हो। इसी तरह अंचल वाजपेयी ने सर्वहारा को 'बाज' की तरह एक खूनी पक्षी के रूप में चित्रित किया है। उनकी कविता न केवल सचाई से दूर है बल्कि शोषित सर्वहारा का अपमान भी करती है :

बाज अपने पंख फैलाता है  
 फिर शैतान खूनी पंजे  
 फिर धारदार चोंच  
 उस क्षण  
 समूचा आकाश  
 एक सहमी हुई चिड़िया से  
 अधिक नहीं होता  
 बाज की सर्वहारा-दृष्टि में

सर्वहारा बाज नहीं है, वह पूरे समाज का उद्धारक है। परंपरा में तो एक दरबारी कवि तक ने बाज से कहा था कि 'बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मार'। आज तो शैतान खूनी पंजे शोषक-शासक वर्ग के ही दिख रहे हैं जो मेहनतकशों की और बढ़ रहे हैं, उनके जनवादी अधिकारों का लगातार हनन हो रहा है और हम उल्टे उसे बाज कह कर निंदित कर रहे हैं। हमें बिंबों की रचना से पहले काफ़ी सोचना-विचारना चाहिए। ये कमज़ोरियां कोई इक्के-दुक्के कवियों की ही नहीं, इस आंदोलन की अपनी अंदरूनी कमज़ोरियां हैं जो जनता के दुखदर्द को पूरी शिद्दत से महसूसने पर ही और सर्वहारा वर्ग की मूल्य व्यवस्था व विकसित सौंदर्य बोध को आत्मसात करने पर ही दूर होंगी।

जनवादी कविता पिछले युगों की कविता के मुकाबले कहीं ज़्यादा मेहनत चाहती है और उस मेहनत का अभाव ज़्यादातर रचनाओं में झलकता है। सच तो यह है कि सच्चे अर्थों में जनवादी कृति की रचना तलवार की धार पे धावनों है,

प्रगतिकामी मूल्य परंपरा, संस्कृति और चिंतन को आत्मसात करने की उसकी मांग तो है ही, अपने जीवन को अपनी कथनी और करनी में एक करने की मांग भी है, समाज की मुक्ति के इतिहाससिद्ध और तर्कसंगत रास्ते पर चलने और उसमें अपनी सक्रिय रचनात्मक हिस्सेदारी की भी उसकी मांग है। आशाप्रद बात यह है कि जनवादी कविता अपनी कमजोरियों को दूर करती हुई निरंतर विकसित धारा के रूप में आगे प्रवाहित हो रही है।

**(कंक पत्रिका के 1979 के एक अंक में प्रकाशित)**

## समकालीन जनवादी कविता की रचना प्रक्रिया

कविता की रचनाप्रक्रिया पर मनुष्यों ने अति प्राचीन काल से लेकर आज के युग तक तरह तरह से विचार किया है। अविकसित समाजों के मनुष्यों ने पिछड़े युगों में कविता की रचना प्रक्रिया को 'ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा' के द्वारा किये गये काम के रूप में समझाकर छुट्टी ले ली थी। प्लेटो ने कवि को दैव प्रेरित (divinely inspired) माना और राजशेखर ने काव्यपुरुष की उत्पत्ति सरस्वती से मानी। सभ्यता और संस्कृति के समकालीन दौर में कविता की रचना प्रक्रिया को मौटे तौर से दो रूपों में व्याख्यायित किया जा रहा है। संसार भर में कुछ लेखक रचना प्रक्रिया को व्यक्तिमनोविज्ञान के आधार पर और कुछ लेखक रचना प्रक्रिया को व्यक्ति व समाज की क्रिया प्रतिक्रिया के आधार पर व्याख्यायित करते हैं। फ्रायड ने व्यक्ति मनोविज्ञान को आधार मानकर कहा कि 'मन की अचेतन क्रिया की समझ ने हमें पहली बार कवि के रचना कर्म के सारतत्व को जानने के काबिल बनाया'। मन को खंडित मानने वाले इस मिथ्या मनोविज्ञान के आधार पर ही रचनाकार और रचना को यानी भोक्ता मन और रचयिता मन को अलग अलग मानकर रचनाप्रक्रिया को हवाई तरीके से व्याख्यायित किया गया। अंग्रेजी कवि टी. एस. एलियट और हिंदी में उनके नकलची श्रीयुत अज्ञेय ने रचना प्रक्रिया की मिथ्या चेतना को ही प्रचारित प्रसारित किया। आज भी श्रीयुत अज्ञेय इस विषय पर लिखकर अपनी 'ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा' के आदिम भाववाद की जड़ता का परिचय दे रहे हैं। पिछले कुछ दिनों से वे चिंतित हो उठे हैं कि लोग समाज की रचना से लेकर कलाओं की रचना के बारे में क्यों सोचने लगे हैं, वे चाहते हैं कि इस विषय में अज्ञान का अंधकार ही फैला रहे तो शुभ हो। अपने एक निबंध 'रचना और प्रक्रिया' में उनकी यह चिंता साफ़ उभरती है। वे कहते हैं कि

यह बात हम खासतौर से कहना चाहते हैं कि रचनाप्रक्रिया के अंतिम विश्लेषण का यह प्रयत्न जोखिम से भरा हुआ है और समकालीन साहित्य, साहित्य ही क्यों, सभी कलाओं को काफ़ी क्षति पहुंचा चुका है।

अज्ञेय जी स्वयं तौ त्रिशंकु की 'रूढ़ि और परंपरा' से लेकर जोग लिखी तक रचना प्रक्रिया के बारे में असंगत, अतार्किक व भाववादी विश्लेषण देने का अधिकार रखते हैं, लेकिन दुनिया भर में हो रहा हर वैज्ञानिक सौचविचार उन्हें 'क्षति' पहुंचाने वाला लगता है। वे अभी भी 'ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा' से आगे नहीं बढ़ना चाहते, वे कहते हैं :

अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता प्रतिभा के ये दो इष्ट हैं, या कहा जाये कि इन दो ध्येयों का योग ही उसका इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना प्रक्रिया है।

इस तरह दुनिया भर के व्यक्तिवादी भाववादी लोग कविता की रचना प्रक्रिया को सिर्फ व्यक्ति के भीतर व्याप्त अलौकिक दैवी प्रतिभा के द्वारा किया गया कर्म मानते हैं, वे व्यक्ति-अनुभव को भी 'अद्वितीय' (यूनीक) और उस की अभिव्यक्ति को भी 'अद्वितीय' और स्वयं को भी 'अद्वितीय' अकेला, समाज से परे, वर्गोंसे परे मानते हैं। इस तरह वे रचनाकारों को 'कविर्मनीषी स्वयंभू' होने का दंभ पालने और व्यापक समाज से अलग रहने के लिए बरगलाते हैं। इसका सीधा अर्थ होता है -- शोषित वर्गों के कवि रचनाकारों को मुक्तिकामी संगठन व उनके अपने ही शिविर से उन्हें दूर करने व उन्हें अकेली मौत मरने के लिए उकसाना, इस तरह अपने वर्ग व समाज के साथ दगा करने के लिए प्रेरित करना।

फ्रायड, बर्गसां और क्रोचे के द्वारा गढ़े गये सौंदर्यशास्त्र और कला विषयक मान्यताओं का खोखलापन आज उजागर हो चुका है, विश्वस्तर पर आज रचना प्रक्रिया के संबंध में वैज्ञानिक विचार सामने आ रहे हैं। आज कविता की रचना प्रक्रिया को ज्ञान से परे व परम रहस्यमय मानना व 'नेति नेति' का जाप करना मूर्खता के अलावा और क्या कहा जायेगा? जहां अज्ञेय एंड कंपनी कविता की रचना-प्रक्रिया के बारे में रहस्यों का घटाटोप खड़ा करते हैं और 'व्यक्ति अनुभव' को 'अद्वितीय' मानते हैं, वहां मुक्तिबोध वैज्ञानिक विचारधारा से लैस होने के कारण 'व्यक्ति अनुभव' को 'बाह्य का आभ्यंतरीकरण' मानते हैं। वे प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त न मानकर अर्जित विवेक मानते हैं। मुक्तिबोध कहते हैं :

काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है, उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं।

आज यह बात वैज्ञानिक प्रयोगों से व तर्कसंगत ज्ञान से साबित हो चुकी है कि आदमी अपने आसपास की दुनिया से जो रिफ़्लेक्स अर्जित करता है, वे ही उसके ज्ञान, अनुभव और संस्कार, भाषा और अन्य विचारसंपदा, यहां तक कि संवेदन और सौंदर्य की रुचि को बनाते हैं, आत्मिक प्रयास (subjective initiative) द्वारा वह व्यापक समाज में उपलब्ध ज्ञान व परंपरा को अर्जित भी करता है और उसका संशोधन-संपादन करके आवश्यकतानुसार उसमें इज़ाफ़ा भी करता है। वर्गों में बंटे समाज में विचार और ज्ञान की प्रकृति भी वर्गीय होती है। ऐसे लोग जो वर्गचेतस् नहीं होते, वे परस्परविरोधी वर्गों की विचारसंपदा अर्जित व आत्मसात् कर लेते हैं, वर्गचेतस् होकर वे उनके अंतर को समझने लगते हैं। शोषण पर आधारित समाजों में शोषकवर्गों के विचारों का प्रभुत्व रहा आया है क्योंकि शोषक वर्ग शिक्षा, संस्कृति, धर्म आदि व अन्य प्रचार साधनों जैसे रेडियो, टेलिविजन, अख़बार, साहित्य आदि द्वारा अपने यथास्थितिवादी या प्रतिगामी विचार लादने की कोशिश करते हैं। मगर इन विचारों से संघर्ष करने वाली प्रगतिकामी शक्तियों की भूमिका भी नदारद नहीं होती, संघर्षी विचार भी रहते हैं, इस तरह का द्वंद्व समाज में सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है। मुक्तिबोध कविता को इसी अर्थ में सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। साथ ही उसे दैवी चीज़ न मानकर व्यक्ति के प्रयास के रूप में भी स्वीकार करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य की रचनाप्रक्रिया समाज में रहने वाले आदमी के सामाजिक चरित्र वाले वर्गीय ज्ञान व भाव संवेदनों को व्यक्त करने के कर्म का नाम है। अतः उसे समाज व व्यक्ति मन की क्रिया-अंतःक्रिया के रूप में समझना ही विवेकसंगत माना जायेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हर युग की कविता की रचनाप्रक्रिया के एक ही जैसे नियम हैं, बदलते संदर्भों में रचनाप्रक्रिया भी बदलती है। मेरे विचार से कुछ नियम तो सामान्य हैं जो हर युग की कविता में काम करते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो बदलते हैं, बदलते रहेंगे। सामान्यता इसका एक प्रमाण तो यही है कि पुराने समय से लेकर आजतक सभी देशों में एक खास कैडेंस की रचनाएं ही कविता मानी गयी हैं, अर्थात् कविता की एक सापेक्ष स्वायत्तता भी है जो कुछ सामान्य नियमों के तहत काम करती है। बहुत समय तक इन सामान्य नियमों को जाना नहीं गया गो कोशिशें लगातार हुईं। कविता की परिभाषाओं की कोशिशें व काव्यमीमांसा की कोशिशें इसी का प्रमाण हैं। जीवनजगत के अन्य मसलों की ही तरह एक समय तक कविता की रचनाप्रक्रिया के बारे में भी एकांगी विचारों की ही स्थापना होती रही। आज के समाज में उन आत्यंतिक सामान्य नियमों की खोज हो चुकी है जो समूची सृष्टि में काम करते हैं। इन्हें हम सभी 'द्वंद्वत्मक भौतिकवाद' के नाम से जानते

हैं। द्वंद्वात्मकता के नियम कविता की रचना-प्रक्रिया में भी काम करते हैं क्योंकि काव्यकृति भी किसी विचार, संवेदन या वस्तु का विकसित छायारूप होती है। अतः वह परिवर्तन व विकास के सामान्य नियमों के अधीन ही रची जाती है, भले ही रचनाकार स्वयं इन नियमों के बारे में सचेत न हों। अतः कविता की रचना-प्रक्रिया एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है।

सभी कलाओं की रचना-प्रक्रिया एक आधारभूत तत्व से शुरू होती है। इस आधारभूत तत्व को संगीत में आधारस्वर (base note) चित्रकला में आधाररंग और कविता में आधारभूत अंतर्निहित रुझान कहा जा सकता है। यह आधारभूत रुझान, जिसे मुक्तिबोध ने संवेदनात्मक उद्देश्य कहा है, माला में धागे की तरह, पूरी कविता में पिरोया हुआ रहता है। संवेदनात्मक उद्देश्य जीवनजगत में घटित होने वाले क्रियाव्यापारों व उनमें स्थित बिंबों से क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया के दौरान कवि एक ऐसा विचार पाता है जिसे वह अभिव्यक्त करना चाहता है, उसे कलात्मक रूप देना चाहता है। उस विचार से द्वंद्व करता है क्योंकि विचार शुरू में एक स्वतःस्फूर्त व अनगढ़ भाषा व फार्म में प्रकट होता है। कवि उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करके कलात्मक नहीं बना सकता। उसे व्यक्त करने के लिए वह नयी भाषा भंगिमा, नये बिंब व नयी संरचना की तलाश करता है। ऐसी स्थिति में संवेदनात्मक उद्देश्य की अर्थ एकता के बावजूद कथ्य और रूप में ऐंटीथीसिस का संघर्ष होता है। मसलन, कबीर के मन में विचार है कि 'मुझे सत्य और ज्ञान बहुत प्रिय लगता है।' कविता में इसे ऐसे नहीं आना है। वह यों अभिव्यक्त होता है। 'पिया मोरा मिल्या सत्त गिआनी'।

कथ्य में प्रेमी व प्रेमिका के बिंब नहीं थे, द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में पड़कर साधारण विचार को असाधारण स्वरूप दे दिया गया। इसी तरह अज्ञेय की चेतना का अंतर्निहित रुझान है कि 'मैं पूरे समाज में अद्वितीय बनूँ, सबसे ऊपर स्थित होऊँ'। कविता का रूप लेने में वह शोषक वर्गीय विचार उन्हें आदमी से 'एक उछली हुई मछली' बना देता है और मानवसमाज विकृत होकर 'समुद्र' बन जाता है। मुक्तिबोध की कविता में उनका क्रांतिकारी सत्य 'शिशु' बन जाता है, 'फूलगुच्छे' और 'रायफिल' में बदल जाता है। मनमोहन की कविता 'सूर्योदय' में क्रांति का संवेदनात्मक उद्देश्य 'सूर्योदय' में बदल जाता है। इस तरह कविता के कथ्य और रूप में ऐंटीथीसिस का संघर्ष और अर्थ की व वर्गीय अंतर्निहित रुझान की एकता रहती है।

कविता की रची संवरी मूर्ति एकाएक वैसी ही नहीं होती जैसी शुरू में सोची होती है, अंतर्निहित रुझान या संवेदनात्मक उद्देश्य और विचार से शुरू होकर अंतिम क्षण तक ही नहीं, अस्तित्व में आ जाने के बाद भी युगयुग तक वह द्वंद्वात्मक स्थिति

में रहती है, भाषा के सामाजिक चरित्र की वजह से वह कभी खत्म नहीं होती, उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया घटित होती रहती है।

कविता के सामान्य नियमों के साथ ही कुछ ऐसे नियम भी हैं जो युग के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, छायावाद की कविता में 'मैं' का उदात्तीकरण रचना-प्रक्रिया का अंग था जबकि भक्तिकाल में 'मैं' का अवमूल्यन प्रमुख था। छायावाद में 'मैंने मैं शैली अपनाई' में कवि यानी उस युग के उस मनुष्य का 'स्व' ऊंचा उठ रहा था जिसने यह जान लिया था कि 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। इसलिए बंधनमुक्त होने की 'स्व' की कामना आकाशचारी बिंबों जैसे चिड़िया, बादल, चंद्रमा, तारा, इंद्रधनुष, आकाशदीप आदि के माध्यम से व्यक्त हुई थी। इस तरह की बिंब योजना फ्रांसीसी क्रांति के समय यूरोप की कविता की रचना-प्रक्रिया का भी एक अंग थी। उस समय सामंतवाद की बेड़ियों से मानव निकल कर नये लोकतांत्रिक युग में प्रवेश कर रहा था। नारा उस समय भी 'स्वतंत्रता' का ही था।

छायावादी कविता में जहां 'व्यक्ति रोमानियत' रचना-प्रक्रिया में काम कर रही थी, वहां प्रगतिवादी कविता में 'क्रांतिकारी रोमानियत' थी। छायावादी कवियों का वाचक 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर' बैठा था, या अपने भीतर के 'स्व' को 'तुम तुंग हिमालय श्रृंग' की संज्ञा दे रहा था, या फिर 'हे चिर महान' हिमालय से कह रहा था कि 'मेरे जीवन का आज मूक/ तेरी छाया से हो मिलाप'। दूसरी ओर प्रगतिवादी कवि का मनुष्य भी हिमालय की तरह चांद चूमने के लिए ऊपर उठ रहा था :

इसी आंच से फसलों सा इंसान उठेगा  
चांद चूम लेने कौ जीवन ज्वार उठेगा ('सुमन')

प्रगतिवादी कवि मजदूर के घर पैदा होने वाले बालक कौ हाथी जैसा बलशाली चित्रित कर रहा था। यह रोमानियत उस युग की कविता की रचना-प्रक्रिया का एक हिस्सा थी।

इसी तरह प्रयोगवाद और नयी कविता की रचना-प्रक्रिया भी अपने से पूर्ववर्ती कविता से भिन्न थी, कंटेंट और फार्म का बदलना रचनाप्रक्रिया के बदलाव का भी सूचक था, नयी कविता में जौ कवि प्रतिक्रियावादी विचारों व हासशील पूंजीवादी-सामंती संस्कृति को अभिव्यक्त कर रहे थे, उनकी कविता के फार्म पर भी इस पतनशीलता का प्रभाव पड़ रहा था, अज्ञेयवादी टूटनग्रस्त क्षण की कविता की अंतिम परिणति अकविता और हकली ताज़ी कविता में इसीलिए हुई, नयी कविता

के भीतर प्रगतिकामी तत्त्वों और नये प्रतिबद्ध विचारों की अभिव्यक्ति मुक्तिबोध में हुई, इसीलिए उनकी कविता में क्षणिका का कोई स्थान नहीं, इससे स्पष्ट है कि क्षण की टूटी कविता और प्रगतिकामी संश्लिष्ट विचारों की कविता की रचना प्रक्रियाओं में भिन्नता है, एक में ऊलजलूल प्रलापों को फलसफाई अंदाज़ में पेश करने की कोशिश है, दूसरे में तार्किक युगसत्य को कलात्मक बिंबों व प्रतीकों में सजाकर पेश करने की कोशिश। पतनशीलों के लिए 'जब सब ऊल ही जलूल है/तो सोचना फ़िज़ूल है। इसीलिए दोनों तरह की कविताओं की रचना-प्रक्रिया पर लिखित उन कवियों के रहस्योद्घाटनों में भी सोच का अंतर स्पष्ट है। इस संबंध में अज्ञेय की मिथ्याचेतना और मुक्तिबोध की तर्कसंगत वैज्ञानिक चेतना की अंतररेखा को आज कोई भी विवेकशील व्यक्ति आसानी से देख सकता है।

समकालीन जनवादी कविता पहले से विकसित होती आ रही, हमारे समाज की प्रगतिकामी मुक्तिकामी चेतना का कलात्मक प्रतिफलन है, यह धारा उतार चढ़ाव के साथ कभी दबी, मगर बराबर विकास करती रही, नयी कविता के शाही तामझाम के बावजूद मुक्तिबोध अंततः ऐंटीथीसिस के संघर्ष में विजयी होकर सामने आ गये, उस दौर के प्रतिक्रियावादियों के लिए वे सचमुच 'जवाबी ग़दर' थे :

मैं हूँ जवाबी ग़दर  
जिससे कि और ज़्यादा तैयारियां कर  
आज नहीं कल फूट पड़ूंगा ज़रूर, ज़रूर

अतः समकालीन जनवादी कविता और ज़्यादा तैयारियां कर 'जवाबी ग़दर' की कविता है, दुनिया भर के हज़ारों हज़ार मेहनतकशों व शोषणविरोधी इंसानों से जुड़ी, सही अर्थों में इंसानियत से प्रतिबद्ध कविता है।

इस दौर की कविता की रचना-प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वह अब तक प्रचारित कविता की धारणा को बदल चुकी है, इसलिए वह कभी पोस्टर बनती है, कभी गोली, कभी नारा और कभी वक्तव्य। वह हज़ारों हज़ार जनों की वाणी से फूटने को आतुर है, पिछले दस बरसों में पहली बार भारतीय समाज में अभिव्यक्ति का ऐसा प्रवाह देखने को मिला है कि शोषित तबकों के सैकड़ों लोग अपने वर्गों की वेदना, संघर्ष चेतना, शोषण के विरुद्ध लामबंद होती जन चेतना को कविता में कह डालने को आतुर हैं, इस जागृति ज्वार का हम स्वागत करते हैं, शोषित जनता की नयी संस्कृति के इन उगते अंकुरों के विकास से ही हमारी प्रगतिशील परंपरा समृद्ध होगी, जनता के जनवादी समाज की स्थापना व उसके अगले चरणों के रूपांतरण में यह सांस्कृतिक नवजागरण एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।



जनवादी कविता की धारा को पुष्ट और क्रांतिकारी सामर्थ्य देने के उद्देश्य से ही इसकी रचना-प्रक्रिया को विश्लेषित-संश्लेषित करना तथा आलोचना-आत्मालोचना द्वारा उसे आगे बढ़ाना ज़रूरी होगया है। अन्य विधाओं की रचना की तरह ही जनवादी कविता की रचना की शुरुआत भी जीवनजगत के किसी दृश्य, घटना, विचार या संवेदन से होती है। कवि इन दृश्यों, घटनाओं, विचारों व संवेदनों का चुनाव अपनी वर्गीय सौंदर्याभिरुचि और वर्गीय अंतर्निहित रुझान से करता है, सही विश्वदृष्टि, वैज्ञानिक दर्शन, ज्ञान व तर्कसंगत विवेकप्रणाली संवेदनात्मक उद्देश्य की रचना में मदद करती है, ज़ाहिर है कि इस दौर की जनवादी कविता के पीछे शोषित वर्गों से जुड़ने यानी वर्गचेतस् होने, शोषितों के मुक्तिसंघर्षों से यथासंभव तदाकार होने का संवेदनात्मक उद्देश्य काम कर रहा है। घटना, दृश्य, विचार, संवेदन कटेंट के रूप में एक कच्चा, सपाट भाषिक फ़ार्म लिये हुए हो सकते हैं। यह बात स्पष्ट कर देनी ज़रूरी है कि अच्छा विचार अपने आप अच्छी कविता नहीं बना देता, उसे कलात्मक बिंबों में एक आकर्षक व सुंदर स्वरूप तो देना ही पड़ता है, घटना या विचार को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए कवि को श्रम करना ही पड़ता है। इसीलिए जो विचार जिस भाषा में पहले पहल उपस्थित हो गया, उसे वैसा ही चित्रित या अंकित कर देना एक तरह से प्रकृतिवादी होगा। किसी भी मार्क्सवादी चिंतक व सौंदर्यशास्त्री ने फ़ार्म की उपेक्षा करने की सलाह नहीं दी है, गो विशेष बल कटेंट पर दिया है। केदारनाथ अग्रवाल की इन पंक्तियों का संदेश आज अनुकरणीय नहीं है कि

कविता यों ही बन जाती है बिना बनाये  
क्योंकि हृदय में तड़प रही है याद तुम्हारी

आज की जनवादी कविता की रचना-प्रक्रिया का मुख्य अंग सही विश्वदृष्टि का विकास करना है, सही विश्वदृष्टि के अभाव में अच्छे से अच्छा कटेंट अपनी अंतिम परिणति में असुंदर बन सकता है। चूंकि सामाजिक विषमता और शोषण की भयंकर मार ने हमें वर्गचेतस् होने तथा शोषित वर्गों से तदाकार होने की प्रक्रिया में डाल दिया है, अतः शोषक और शोषित की राजनीति में से सही पक्ष के प्रति सचेत होने और उससे प्रतिबद्ध होने की जरूरत का भी अहसास हो रहा है। इसीलिए समकालीन जनवादी कविता की रचना-प्रक्रिया में शोषकों के कुकर्मों व शोषण की राजनीति के प्रति आक्रोश, घृणा और शोषितों की संघर्षशीलता व उनकी राजनीति के प्रति हमदर्दी, सहभागिता व तदाकारता का स्वर महत्वपूर्ण स्थान पा चुका है। रचना-प्रक्रिया में चूंकि कटेंट का स्थान महत्वपूर्ण है अतः उसे सही समझ के अभाव में, कई बार भटकावग्रस्त रचना द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक सज्जन ने क्रांति की कविता

लिखते समय कह दिया कि 'क्रांति कौ किसी झंडे की ज़रूरत नहीं होती'। एक कवि ने आपात्काल ख़त्म होने पर कविता में लिखा कि 'अंधैरा और गहरा हो गया है।' उनके लिए सारे धान बाईस पसेरी हैं। इस तरह के कथ्यगत भटकाव विचाराधारात्मक कल्पना में तभी आते हैं जब जीवनजगत के रोज़मर्रा के व्यवहार और राजनीति को समझने और उससे क्रियाप्रतिक्रिया करने में हम तर्कसंगत विवेक तथा अपने वक्तू के प्रधान अंतर्विरोधों को, शत्रुमित्र वर्गों की पहचान को अपनी काव्यचेतना का अंग नहीं बना पाते। आज के बुद्धिप्रधान युग में सही वर्गीय राजनीतिक समझ का विकास काव्यवस्तु को सही रूप में अभिव्यक्त करने के लिए यानी कविता की रचना-प्रक्रिया के लिए अनिवार्य क़दम बन गया है।

कवि काव्यवस्तु के अपने कच्चे संवेदनों को कलात्मक बिंबों व अन्य तकनीकों से सजाकर पेश करने के लिए भीतरी संघर्ष भी करता है। इस प्रक्रिया में उसके आड़े दूसरों द्वारा रचे बिंब, मुहावरे, भाषिक प्रयोग आते हैं। सच्चा कवि संवेदनात्मक उद्देश्य से जुड़ा रह कर भी नयी संरचना, नये भाषिक प्रयोग और नये काव्य मुहावरों का सृजन करता है। अच्छे से अच्छा कटेंट इस तरह की प्रक्रिया में पड़े बिना निष्प्रभ हो जाता है। कविता एक सपाट सा वक्तव्य बनकर रह जाती है। समकालीन दौर के जनवादी कवि मुक्तिबोध की भाषा व शैली का अनुकरण भले ही न करें, करना भी नहीं चाहिए, किंतु उनके द्वारा कला की रचना-प्रक्रिया के तीन लक्ष्यों को भूलना आत्मघाती होगा। जो कविता रचना-प्रक्रिया की एक या दो मंज़िलें पूरी करती है उसमें कलात्मकता की कमी रह जाती है, कभी कभी बह नारेबाज़ी तक ही सीमित हो जाती है। मार्क्सवादी विद्वानों ने कहीं भी शिल्प या रूप की अवहेलना का सुझाव नहीं दिया है। एंगेल्स ने कहा था कि 'रचनाकार अपने विचारों को जितना ही छिपाकर प्रस्तुत करता है, उतना ही अच्छा रहता है'। यह काम रचना-प्रक्रिया की सभी मंज़िलें पूरी करने पर ही होता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि कविता को अति जटिल बना दिया जाये, कुछ लोग जिनकी कविता में कलात्मकता कम होती है अप्रासंगिक नहीं हो जाते, यदि कविता का कटेंट और रचनाकार का नज़रिया जनवादी है तो सरल व साधारण शिल्प की कविताएं भी हेय नहीं हो जातीं। रचना-प्रक्रिया की अधूरी मंज़िल तक पहुंची रचनाएं साधारण लोकरुचि के साहित्य की श्रेणी में और सभी मंज़िलें पूरी करने वाली परिष्कृत साहित्य की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। चूंकि हमारे दोस्त वर्गों में दोनों तरह की रुचियों व कला चेतना के लोग हैं, अतः इन रचनाओं को एक दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक माना जायेगा। जनवादी कविता का दायरा संकीर्ण नहीं है, हो भी नहीं सकता क्योंकि वह चंद ऐय्याश शोषकों के मनोरंजन की वस्तु नहीं है, करोड़ करोड़ शोषित लोगों की, भिन्न भिन्न सांस्कृतिक रुचियों, स्तरों व आशा

आकांक्षाओं से जुड़ी हुई कविता है, अतः उसमें स्तर भेद को इसी अर्थ में लेना होगा। इसीलिए हमें जनवादी कविता के शिल्प के बारे में लचीला होना होगा, अधिकाधिक छूट देनी होगी, वे छंदबद्ध हों, गीत हों, अतुकांत हों, लोकधुनों हों, बिंबात्मकता हो, प्रतीकात्मकता हो, सरलता हो, जटिलता हो, प्रगीतात्मकता हो, नाटकीयता हो, फैंटेसी हो, एलीगरी हो, शिल्प के नये पुराने सभी औजार हमारे काम के हो सकते हैं बशर्ते नज़रिया और संवेदनात्मक उद्देश्य जनवादी हो। जनवादी कविता की रचना-प्रक्रिया के इस लचीलेपन को इसलिए रेखांकित करना ज़रूरी है क्योंकि प्रायः कुछ रचनाकार अक्सर एक दूसरे का रेजिमेंटेशन करने की व्यक्तिवादी हरकत करते हुए देखे जाते हैं, एक कवि ने एक जनवादी गीतकार की भर्त्सना इसलिए कर दी क्योंकि उसने जनता के सामने एक गीत गा दिया, 'लौंग झूमने लगे' उन ईर्ष्यालु कवि महौदय ने अपनी डायरी में लिखा कि गीत कविता का माहौल खराब करते हैं, उन की डायरी के प्रकाशित अंशों से लगता है कि उनका वश चले तो वे गीतकारों को गोली से उड़वा दें। अजीब बात है कि वे प्रयोगों की खुद तो सारी छूट लेते हैं, मगर यह छूट वे औरों को नहीं देना चाहते। रचना की शिल्पगत प्रक्रिया के विषय में हर एक रचनाकार को रचनात्मक छूट मिलनी ही चाहिए। मूल संवेदन के सही तौर पर जनवादी होने के आग्रह के अलावा अन्य आग्रह रचनाशीलता को खत्म करने वाले नहीं होने चाहिए।

संक्षेप में, जनवादी कविता की रचना-प्रक्रिया की नियामक शक्ति जनवादी प्रतिबद्धता है जो शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति से लेकर उनके अगुआ दस्ते यानी उनके राजनीतिक दल में शामिल होने तक हो सकती है। पक्षधर संवेदनात्मक उद्देश्य जनवादी कंटेंट को पूंजीवादी-सामंती सौंदर्याभिरुचि से अलग हटाकर एक सही प्रगतिशील दिशा देता रहता है। कलाकार अपने परिश्रम द्वारा सांस्कृतिक व कलात्मक संसरो व गतिरोध का निषेध कर नये से नये आकर्षक, शोषित वर्गों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों या अपने पाठक या दर्शक की रुचि के उपयुक्त फ़ार्म ईजाद करता है, पाठक की, जन की क्रिया-प्रतिक्रिया से, आलोचना व आत्मालोचना से, अपने अनुभव को बढ़ाकर वह रचना-प्रक्रिया को नया संस्कार देता चलता है। हमारा आज का जनवादी कवि इस दृष्टि से बराबर विकसनशील परंपरा को आगे ले जाने में व नयी संस्कृति, नया जनवादी साहित्य व जनता का जनवादी समाज रचने में अपनी ईमानदार भूमिका निभाने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा, ऐसी हम सब की आशा आकांक्षाएं हैं।

**(जनवादी साहित्य के दस वर्ष, 1978 में आयोजित लेखक शिविर में पढ़ा गया लेख)**

## अंतर्वस्तु व रूप : रूपवाद और सौंदर्यवाद

यथार्थ जगत की हर चीज़ के दो पहलू होते हैं : एक अंतर्वस्तु और दूसरा रूप जो एक दूसरे से अलग नहीं होते। यह अवधारणापरक (और वास्तविक भी) विभाजन विश्लेषण-संश्लेषण के तरीके द्वारा वस्तुओं की सच्चाई को समग्रता में जानने के लिए किया गया है।

‘अंतर्वस्तु’ का क्या मतलब है? फ़ंडामेन्टल्स आव माक्सिस्ट-लेनिनिस्ट फ़िलासफ़ी में कहा गया है कि ‘अंतर्वस्तु का अर्थ है किसी वस्तु के सभी तत्व, आनुपातिक एकता, आंतरिक प्रक्रिया, संबंध, अंतर्विरोध और विकास का रुख’।

‘रूप का क्या अर्थ है? इसे यों परिभाषित किया गया है : ‘रूप का अर्थ है अंतर्वस्तु की बाह्य अभिव्यक्ति का साधन, अंतर्वस्तु के तत्वों के संबंध की सापेक्षतया स्थिर निश्चितता और अंतर्वस्तु से तत्वों के संबंध की सापेक्षतया स्थिर निश्चितता और अंतर्वस्तु से अंतःक्रिया, भेद और उसकी संरचना।’

मनुष्य सभ्यता के प्रारंभ से ही वस्तुजगत के रहस्यों को जानने की लगातार कोशिश करता आया है। ज्ञान-विज्ञान के विपुल भंडार इस कोशिश के साक्ष्य हैं। यदि हम ग्रीक दर्शन या भारत के वैदिक व उपनिषदिक साहित्य को गहराई से देखें तो पता लगेगा कि मनुष्य के लिए पदार्थ व उसकी गति प्रमुख चिंतन के विषय रहे हैं। आदि मानव अपने चारों ओर फैले अनंत वस्तु जगत के बारे में रहस्याकुल था। ग्रीक दर्शन का सर्वप्रथम जाना गया दार्शनिक, थेल्स, सबसे पहले धरती की रचना पर ही अपना ध्यान केंद्रित करता है। वह कहता है कि धरती का जन्म जल से हुआ। बाद में अनेक्सीमैंदर ने कहा कि सृष्टि का उद्गम ‘अरिचित वस्तु-समूह से हुआ।’ अणुवादी दार्शनिकों को अणु को सृष्टि का प्रथम तत्व माना। यह थी शुरू के दौर के मनुष्य की मामूली खोज। भारत में भी ऋग्वेद में सृष्टि को ‘हिरण्यगर्भः’ यानी पहले से व्याप्त पदार्थ से उत्पन्न माना गया (मंडल 10/10/121)। किसी अन्य ऋषि ने सृष्टिकर्ता को सहस्रादशीर्ष पुरुष की संज्ञा दी। उपनिषदों में सृष्टि की जननी ‘प्रज्ञा’ बन गयी। ग्रीक दर्शन में भी ‘नाउस’ यानी चेतन सत्ता को सृष्टि का उद्भवकर्ता माना जाने लगा। एक दृष्टि भौतिकवादी कहलायी, दूसरी भाववादी। इन दोनों दृष्टियों का संघर्ष आज भी चल रहा है।

ग्रीक दर्शन में दासयुग में भाववाद की वकालत पुरजोर तरीके से प्लेटो के

दर्शन में दिखायी देती है, जबकि अरस्तू ने उसका खंडन करते हुए अपने अनुकरण सिद्धांत में 'प्रकृति' यानी भौतिक जगत को प्राथमिक कारक माना, जैसा कि उनके काव्यशास्त्र की शुरुआती स्थापनाओं से पता चलता है। इस तरह इन दो विश्वदृष्टियों का टकराव हमें हर देशकाल में दिखायी देता है। भाववाद आइडिया को ही प्राथमिकता देता है और जीव जगत को मिथ्या बताता है, जबकि भौतिकवाद पदार्थ की सत्ता को प्रथम बताता है और भाव को गौण मानता है।

अंतर्वस्तु और रूप के अंतःसंबंध को लेकर भी हमें दो दृष्टियां देखने को मिलती हैं। एक दृष्टि अंतर्वस्तु को प्रमुख मानती है, दूसरी नाम, रूप, गुण को। 'ब्रह्म राम ते नाम बड़'। मुख्यतः भाववादी रूप को ही सत्य मानते हैं क्योंकि भाव भी रूप ही है। हमारे यहां 'घट' और 'पट' के उदाहरणों से सांख्य आदि दर्शनों में रूप और अंतर्वस्तु को ले कर काफी विवाद हुआ है। भौतिक आधार के अभाव में ये भौतिकवादी दर्शन अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण न कर सके और आगे विकास नहीं कर पाये, रूप और अंतर्वस्तु की गुथी अनसुलझी ही चलती रही। इस गुथी को दुनिया में औद्योगिक क्रांति के साथ विकसित वैज्ञानिक चेतना के बाद ही ठीक से समझा गया। वैज्ञानिक चेतना के विकास की प्रक्रिया में उपजे 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद' ने इंसान को नयी वैज्ञानिक विश्वदृष्टि दी जिससे जीवन जगत और कला व साहित्य की इन गुथियों को समझने में मदद मिली। इसी ज्ञान की विकास अवस्था को हम मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नाम से जानते हैं।

इस ज्ञान के अनुसार, 'अंतर्वस्तु और रूप किसी चीज़ के पहलुओं के बीच एक ऐसा नाता जोड़ते हैं जो भिन्न ही नहीं, एक दूसरे का विरोधी होता है। रूप और अंतर्वस्तु का विभाजन उनकी अविभाज्य एकता के ढांचे में ही रहता है और उनकी एकता एक आंतरिक विभाजन में ही रहती है (*फंडामेंटल्स ऑव मार्किस्ट लेनिनिस्ट फिलासफी*)। इससे स्पष्ट है कि अंतर्वस्तु और रूप के बीच कोई भयंकर खाई नहीं होती। दोनों के बीच अंतःसंबंध और अंतःक्रिया रहती है। उदाहरण के लिए, कोई विचार किसी ठोस यथार्थ का रूप हो सकता है, तो किसी कविता की अंतर्वस्तु भी। रूप कोई बाहर से थोपी हुई चीज़ नहीं जिसे अंतर्वस्तु के ऊपर उड़ा दिया गया हो।

रूप और अंतर्वस्तु के इसी रिश्ते को हम द्वंद्वात्मक रिश्ता कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि अंतर्वस्तु और रूप में विरुद्धों की एकता व संघर्ष होता है। द्वंद्वात्मकता को व्याख्यायित करते हुए लेनिन ने लिखा था, '...the struggle of content with form and conversely the throwing of the form and transformation of the content'

जिस तरह कटेंट और फार्म में संघर्ष होता है वैसे ही उनमें अन्विति या एकता भी

होती है। रूपरहित कोई अंतर्वस्तु नहीं हो सकती और अंतर्वस्तु रहित कोई रूप नहीं हो सकता। अंतर्वस्तु और रूप के इस द्वंदात्मक रिश्ते की समझ साहित्य समीक्षा के लिए उतनी ही ज़रूरी है जितनी समाज की समीक्षा के लिए। हम अपने समाज की असलियत सही तौर पर नहीं जान सकते जब तक उसके रूप और अंतर्वस्तु को सही सही न समझ लें। सामाजिक संबंधों का प्रतिफलन ही राजनीति, संस्कृति व साहित्य में होता है। हमारा समाज वर्ग-समाज है जिसमें दो प्रमुख परस्परविरोधी वर्ग हैं। एक ओर सत्ताधारी वर्ग के रूप में बड़े इज़ारेदार और बड़े भूस्वामी हैं जिन्होंने साम्राज्यवाद के साथ समझौता किया हुआ है। दूसरी ओर देश के बाकी वर्ग हैं जिन्हें शोषितवर्ग के अंतर्गत रखा जा सकता है। यह सामाजिक अंतर्वस्तु राजनीति के रूप में प्रतिफलित होती है जिसे हम लोकतंत्र के रूप में पहचानते हैं। यहां भी अंतर्वस्तु और रूप के बीच संघर्ष है। समाज की अंतर्वस्तु में मौजूद अंतर्विरोध राजनीति में प्रतिफलित होते रहते हैं। जहां एक ओर शोषक-शासक वर्गों का हितसाधन करने वाली पार्टियां हैं वहीं सर्वहारावर्ग और उसके सहयोगी वर्गों का हितसाधन करने वाली पार्टियां भी हैं। इस तरह सामाजिक सत्य का साक्षात्कार करके ही हम शोषितवर्गों के साथ खड़े होते हैं, वर्गचेतन हो कर सर्वहारावर्ग की राजनीति, उसकी विचारधारा और उसके संघर्षों के साथ खड़े होते हैं जिससे समाज अपने विकास की अगली मंजिल में प्रवेश कर सके।

साहित्य के समीक्षक को भी साहित्य व कला की समीक्षा के लिए रचना की अंतर्वस्तु और रूप की द्वंदात्मकता को विश्लेषित-संश्लेषित करना पड़ता है। इसका यह अर्थ है कि कृति को, उसके उन तमाम अंतर्विरोधों, अंतःसंबंधों व अंतःक्रियाओं का विश्लेषण-संश्लेषण करते हुए समीक्षित करना होगा जो उसके रूप और अंतर्वस्तु के उपादान होते हैं। हर महान रचना में जीवन-प्रक्रिया घटित होती है, इसलिए वह प्रक्रिया द्वंदात्मक होती है, इसलिए जीवन की ही तरह वह इतिहास के एक कालखंड का हिस्सा भी होती है। ऐसी रचना को उस युगविशेष की जीवित सामाजिक चेतना कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। सामाजिक चेतना के भीतर वर्गविचार, वर्गविचारधारा और वर्गसौंदर्य की रुचि समायी होती है। हमारी साहित्यिक समीक्षा अंतर्वस्तु और रूप की इन तमाम जटिलताओं को व्याख्यायित करती है और उन्हें रचना-युग के सामाजिक-आर्थिक अंतःसंबंधों के साथ उसके रिश्ते को भी तलाश करती है। इन जटिलताओं को हम रचना-प्रक्रिया में काम करने वाले सौंदर्य-शास्त्रीय तत्वों से भी जोड़कर परखते हैं। भाषा, बिंबविधान, प्रतीकविधान, रूपक और मिथ का विश्लेषण भी अंतर्वस्तु की जटिलताओं को विश्लेषित करने के लिए किया जाता है।

द्वंदात्मकता के नियम किसी साहित्यिक कलाकृति में भी काम करते हैं।

कलाकार अपनी कला का मसाला समाज से प्राप्त करते हैं। उनका ज्ञान और मानसिक संरचना भी समाजसापेक्ष होती है क्योंकि इस सब को वह कंडीशंड रिफ्लेक्सों के माध्यम से समाज से अर्जित करता है। वे समाज से प्राप्त कला की अंतर्वस्तु के कच्चे मसाले को अपने वैयक्तिक प्रयास द्वारा नया कलारूप दे देते हैं। एक जीवंत रचना में, जीवनप्रक्रिया होने के कारण ऐंटीथीसिस का संघर्ष होता है। यह ऐंटीथीसिस का पैटर्न बिंबों, प्रतीकों और कृति की भाषा तक में प्रतिफलित होता है। विश्वभर की महान कृतियां इस बात की प्रमाण हैं। दो विरोधी जीवनमूल्यों व सौंदर्यमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले राम और रावण में से एक भी निकाल दीजिए, *रामायण* निष्प्राण हो जायेगी। इन विरुद्धों का प्रतिफलन भाषिक संरचना में भी मिलता है। यही बात *इलियड*, *एनीड*, *डिवाइन कमेडी*, *पैराडाइज़ लॉस्ट* और *रामचरितमानस* जैसे महाकाव्यों और 'राम की शक्ति पूजा' और 'अंधेरे में' जैसी रचनाओं पर भी लागू होती है। इनमें द्वंद्वात्मकता का निर्वाह हुआ है, इनकी जीवंतता का यही राज है। शेक्सपीयरके नाटक भी अपनी द्वंद्वात्मक प्रकृति के कारण ही अमर हैं। उनके *ओथेलो* में से 'इयागो' को निकाल दीजिए, फिर 'डेस्टेमोना' का क्या होगा? *हैमलेट* में से 'क्लाडियस' को निकाल दीजिए, राजकुमार हैमलेट 'न कुछ' में बदल जायेगा। इस तरह नकारात्मक और सकारात्मक तत्व महान साहित्यिक कृतियों में अवश्य होते हैं और इन तत्वों का संबंध ऐतिहासिक सामाजिक आर्थिक आधार से भी होता है। वह संबंध ग्रीक साहित्य का भी था आर' शेक्सपीयर, तुलसी, कबीर निराला और मुक्तिबोध की रचनाओं का भी।

मार्क्सवादी विश्वदृष्टि ही कृति को इन सभी अंतःसंबंधों में देखने की दिशा प्रदान कर सकती है। इसके रचनात्मक अमल द्वारा वैज्ञानिक व तर्कसंगत समीक्षा पद्धति को विकसित किया जा सकता है। ऐसी समीक्षा से ही साहित्य में विकसनशील और अवरोधक तत्वों की पहचान करके नये मानव की नयी संस्कृति के निर्माण में सकारात्मक पहलुओं को आत्मसात करके सही योगदान दिया जा सकता है। मार्क्सवादी जनवादी समीक्षा द्वारा ही मनुष्य को, युगों पुराने अंधकार व उस शोषणपरंपरा द्वारा फैलाये गये अंधकार व मिथ्या चेतना के बंधनों से मुक्ति मिल सकती है जो हमारे जीवन के हर क्षेत्र में घर कर गयी है क्योंकि शोषकशासक वर्गों ने उत्पादन के बड़े साधनों पर ही कब्ज़ा ही नहीं जमाया हुआ है बल्कि विचार-उत्पादन के साधनों पर भी उन्हीं का वर्चस्व है।

मार्क्सवादी जनवादी समीक्षा शोषकों व उनकी विचारधाराओं के खिलाफ हमारे विचारधारात्मक संघर्ष का एक हिस्सा है। कला, साहित्य व समीक्षा में रूप पर विशेष बल देने वाली करतूत को हम रूपवाद कहते हैं। रूपवाद दरअसल, कला क्षेत्र का भाववाद है, इसीलिए हम रूपवाद से भी जद्दोजहद करते हैं। पुरातनकाल से एक

भाववादी परंपरा ऐसी रही है जो रूप को एक अलग चीज़ मानती रही है। उस आदिम भाववाद को आधुनिक रूप देने वाले कुछ 'विद्वान' आज भी देखने को मिल जाते हैं। वे रूप को आत्यंतिक घोषित करते हैं तथा चालाकी से अंतर्वस्तु को रूप से काटने का प्रयास करते हैं। पिछले दिनों इस चालाकी का नमूना अमेरिका के एक प्रतिक्रियावादी समीक्षक ने यह कह कर पेश किया कि 'फार्म ही कंटेंट होता है'। यह आदिम अनुभववाद की और प्रत्यागमन है। रूपवादी रूप और रूपवादी मांगों को बढ़ाचढ़ा कर पेश करते हैं। दरअसल, रूपवाद प्रतिक्रियावादी ताकतों के हाथ का अस्त्र रहा है जिससे वे यथास्थिति बनाये रखने में सफल हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि शोषण समाज की विभिन्न गतिविधियों की वर्गीय अंतर्वस्तु को लोग न जानें तथा रूप पर ही ध्यान केंद्रित करें। अगर कहीं व्यापक जनसमूह को अंतर्वस्तु का भी पता चल गया तो लोग वर्गसमाज की सचाई को व शोषकों के चेहरों की पहचान को नग्न सत्य के रूप में समझकर इस समाज को बदलने के लिए आतुर हो उठेंगे। वे इसकी अंतर्वस्तु और रूप को भी बदलने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। शोषणविहीन समाज बनाने की प्रक्रिया समाज में ऐसे ही घटित होगी।

किसी भी वर्गसमाज में सारे सिद्धांत वर्गीय चरित्र के होते हैं क्योंकि उन्हें समाज के मनुष्य ही बनाते हैं, कोई सिद्धांत आसमान से नहीं टपकता। ज़्यादातर लोग अनजाने ही शोषक वर्गों की मिथ्या विचारधारा के शिकार होते हैं, इसीलिए शोषित वर्गों में हम ऐसे लोग पाते हैं जो मजदूरवर्ग की वैज्ञानिक विचारधारा व तर्कसंगत ज्ञान - मार्क्सवाद - के प्रति उदासीनता या विरोध का भाव रखते हैं क्योंकि वे शोषकों की विचारपरंपरा के शिकार होते हैं। कुछ लोग मिथ्याचेतनावश सोचते हैं कि कला और साहित्य तो वर्गेतर होते हैं, कुछ तो उसे लोकोत्तर भी मानते हैं। मिथ्या चेतना व अज्ञान शोषकों का हित करते हैं। रूपवाद इस अज्ञान का ही एक रूप है, इसीलिए वह शोषकों का हित साधन करता है और मनुष्य की ज्ञानपिपासा को कुंद करके ज्ञान के दायरे को सीमित करता है। यही वजह है कि शोषक शासक वर्ग उसे बढ़वा देते हैं और हम रूपवाद से संघर्ष करते हैं।

रूपवाद जनवादविरोधी होता है, वह व्यक्तिपूजा की चेतना को भी जन्म देता है और अपनी अंतिम परिणति में मेहनतकश जनता के हितों के विरुद्ध जाता है। जो भी व्यक्ति या संगठन रूपवाद का शिकार हुआ वह भंयकर भूल करने के लिए अभिशप्त हो जाता है। राजनीति में सत्तर के दशक में सीपीआइ ने कांग्रेस के शब्दाडंबर यानी भाषिक संरचना पर विश्वास करके उसे प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया, जबकि कांग्रेस के शब्दाडंबर की अंतर्वस्तु बड़े पूंजीपतियों व ज़मींदारों का ही हित साधन करने की थी। कांग्रेस की नीतियों की अंतर्वस्तु को सही न पहचान पाने के कारण ही सीपीआइ ने इंदिरा गांधी की



व्याक्तिपूजा यानी अधिनायकत्व में योग दिया। इस तरह रूपवादी दृष्टि अपने अंतिम विश्लेषण में जनवादविरोधी हो जाती है। इसीलिए विश्वभर के मार्क्सवादी-लेनिनवादी बुद्धिजीवियों ने रूपवाद से संघर्ष किया है। शोषकशासक वर्गों ने हर देश में रूपवाद को बढ़ावा दिया है। आज भी अमेरिका आदि साम्राज्यवादी देश और हमारे यहां के पूंजीवादीसामंती वर्ग हज़ारों रुपये खर्च करके व किराये के बुद्धिजीवियों के माध्यम से रूपवाद को प्रचारित प्रसारित कराते रहते हैं। भारत में, साहित्यसमीक्षा के क्षेत्र में नयी नयी रूपवादी पद्धतियां विकसित करने की चेष्टाएं होती रहती हैं। काफ़ी समय तक प्रतिक्रियावादी समीक्षकों ने सामंती रूपवादी पद्धतियों जैसे रससिद्धांत, अलंकार सिद्धांत व वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांत को कविता की समीक्षा के प्रतिमानों के रूप में प्रतिष्ठित किया। जब प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने इन प्रतिमानों के वर्गाधार व खोखलेपन को उजागर किया तो शोषकशासक वर्गों की विचारधारा के असर के तहत बुद्धिजीवियों ने अमेरिकी 'नयी समीक्षा' के रूपवादी प्रतिमानों को समीक्षा के लिए कारगर हथियार बनाना चाहा। इस रूपवादी पद्धति की भी वंशवेलि आगे न बढ़ सकी। इसका खंडन भी प्रगतिशील लोगों ने किया तथा जनवादी समीक्षा को विकसित करने के अपने अभियान को जारी रखा।

मार्क्सवादी जनवादी समीक्षा रूपवाद से संघर्ष करती है। इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि वह रूप की अवहेलना या उपेक्षा करती है। आज तक किसी भी मार्क्सवादी या क्रांतिकारी चिंतक ने कलाकारों या रचनाकारों को खराब या लचर रूप में कला सृजन की सलाह नहीं दी है। सोवियत लेखक, ए. ज़िस, ने अपनी पुस्तक, *फाउन्डेशन्स ऑव मार्किस्ट ऐस्थेटिक्स* में लिखा है कि 'अंतर्वस्तु की निर्णायक भूमिका स्वीकारते हुए भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्री कलात्मक रूप की ओर भी विशेष ध्यान दिलाते हैं।' ज़ाहिर है कि कोई भी समझदार आदमी कला में अंतर्वस्तु को सपाट रूप में पेश करने की सलाह नहीं देगा। मार्क्सवादी जानते हैं कि कोई भी अच्छा विचार अपने आप में अच्छी रचना नहीं बन जाता, उसे सुंदर बिम्बों में सजाकर पेश करना पड़ता है। यह मान्यता उस अतिवादी समझ से भिन्न है, जिसे 'सौंदर्यवाद' कहा जाता है, जिसमें सौंदर्य सौंदर्य के लिए है। क्रोचे आदि सौंदर्यवादी अभिव्यंजना को ही कला का नियामक तत्व मानते रहे हैं।

सौंदर्यवादी कला के सौंदर्यगत सवालों को आत्यंतिक घोषित करते हैं। सौंदर्यवाद भी कुल मिलाकर 'कला कला के लिए' सिद्धांत की ही पुनरावृत्ति है। सोवियत लेखक, ए. ज़िस ने सौंदर्यवाद के खोखलेपन को एक सोवियत कलाकार, डी. मूर रोदिन के इस वक्तव्य द्वारा उजागर किया है, 'बिना रूप के कोई कला कला नहीं हो सकती, मगर 'फैशनपरस्त कला' दानवी होती है।' सौंदर्यवाद, दर असल, इस फैशनपरस्त कला का हामी है जिसे उपभोक्ताओं के लिए माल की तरह तैयार

कराया जाता है। यह कला प्रायः झूठी व धोखादेह होती है। सौंदर्यवाद 'विषरस भरा कनक घट जैसे' है। ज़्यादातर प्रतिक्रियावादी विचारधारात्मक अंतर्वस्तु को आकर्षक रूप का सहारा लेना ही पड़ता है। अतः सौंदर्यवादी इसी आधार पर उस की श्रेष्ठता को घोषित करते हैं। इसीलिए अंतर्वस्तु को वे महत्व नहीं देते।

साहित्य में सौंदर्यवाद भिन्न भिन्न रूपों में प्रतिफलित होता आया है। प्रतीकवाद, बिंबवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद आदि ऐसे ही साहित्यसिद्धांत थे जिनमें कला की रूपाकृति को ही अंतिम सत्य मानकर समीक्षा को सीमित करने के प्रयास हुए थे। अंग्रेज़ी व अमेरिकी साहित्य में 'नयी समीक्षा' भी इसी की एक शाखा थी। आजकाल 'शैली विज्ञान' व 'नया शैली विज्ञान' भी रूपवाद के ही नए रूप हैं। इसी तरह 'संरचनावाद' भी रूपवाद का ही दूसरा नाम है। ये फ़ैशनेबल रूप की समीक्षापद्धतियां हैं जिनमें पूंजीवाद की गिरावट, संकुचन व हास की प्रवृत्ति को बखूबी देखा जा सकता है। दूसरी ओर, सामाजिक यथार्थवादी जनवादी समीक्षा दृष्टि है जो विश्वभर के सर्वाधिक विकसित ज्ञान को आत्मसात करके दिनोंदिन व्यापक होती जा रही है।

रूपवादी, शैली वैज्ञानिक व संरचनाधर्मी समीक्षा सिद्धांत अब मानवीय आकार से मेटाफ़ार्सिस द्वारा तिलचट्टा बनने की प्रक्रिया में हैं। गहराई से देखें तो संकुचन की यह प्रक्रिया स्पष्ट हो जायेगी। नया समीक्षक कम से कम 'पोइम ऑन द पेज' की बात तो करता था, यह 'पृष्ठ पर अंकित कविता' धीरे धीरे 'काव्य एक शब्द है' में संकुचित कर दी गयी है। पाठात्मक, भाषा वैज्ञानिक व संरचनावादी समीक्षाओं में कविता सिर्फ़ शब्द में सीमित रह गयी। 'शैली वैज्ञानिकों' ने और आगे का कमाल कर दिखाया। कविता के टैक्स में से संज्ञा पद, सर्वनाम, क्रियाविशेषण पद व क्रियापदों को चुन कर उस कविता की छीछालेदर कर दी। एक 'नये शैली वैज्ञानिक' जी उसे बलाघात, अर्द्धविराम और विरामचिन्हों तथा अमूर्त ध्वनि पुंजों तक में घटाने की जीतोड कोशिश करते नज़र आ रहे हैं। इस तरह रूपवादी समीक्षाएं धीरे धीरे पतन व संकुचन की ओर बढ़ रही हैं। वे रचनाओं को सारे संदर्भों से काटकर एक बेहूदगी में बदलने की कोशिश में हैं। उनके तई रचना एक बंद शाब्दिक संरचना होती है जोकि एक बहुत बड़ा झूठ है। अमेरिकी प्रगतिशील समीक्षक जीन बैल ने बहुत सही ही कहा है :

साहित्यकारों को यह मानना होगा कि कोई साहित्यक कृति एक संकुचित शब्द संरचना नहीं बल्कि वह भिन्न भिन्न सामाजिक सत्तों की शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है (साइंस एंड सोसाइटी, पतझड़ अंक-1973)

कंक पत्रिका के मार्च-अगस्त 1979 में प्रकाशित